गच्छायार पइण्णायं

—मुनि त्रिलोक

गच्छाचार प्रकीर्णकम्

[संशोधित मूल सरल हिन्दी अनुवाद परिष्कृत-]

संस्कृतछाया समन्वितम्

लेखक--

जैनागमरत्नाकर, साहित्यरत्न जैनाचार्य पूज्य
श्री आत्मा राम जी महाराज के सुशिष्य प्रसिद्ध
वक्ता युगपुरुष स्वर्गवासी गुरुदेव श्रीस्वामी
खज़ानचन्द जी महाराज तच्छिष्य
मुनि श्री त्रिलोक चन्द जी महाराज

प्रकाशक—

रामजी दास किशोर चन्द जैन

मानसा मण्डी पेप्सू

प्रकाशक—

लाला किशोर चन्द जैन

मानसा मण्डी

वीर सम्वत् २४७७ ई० १९५१

प्रथमबार —— १००० प्रति

मुद्रक—

मु० श्रीम राय प्रोप्राइटर राएज़ आर्ट प्रेस कूचा लालूमल

लुधियाना

अखिल भारतीय श्वे० स्था० जैन कोन्फरन्स के मुख पत्र

"जैन प्रकाश" का अभिमत

गच्छायार पइण्णयं

प्रस्तुत पुस्तक में गच्छाचार सम्बन्धी गाथाओं का निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार तथा महानिशीथ आदि सूत्रों से संग्रह किया गया है। साथ ही साथ संस्कृत छाया व हिन्दी में अर्थ भी दिया गया है जिस से पुस्तक की उपयोगिता सर्वसाधारण के लिये बढ़ गई है। गच्छ में रहने वाले साधु-साध्वी और आचार्य को किस तरह रहना चाहिये? और संयम के लिये गच्छ में रहना अत्यावश्यक है, गच्छ बाहिर स्वच्छन्द रूप से नहीं, आदि बातों का वर्णन किया गया है। मुनि श्री का प्रयास प्रशंसनीय है॥

बम्बई
ता० १ नवेम्बर १९५१

'रत्नेश'

|| नमोऽत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स ||

अथ गच्छाचार प्रकीर्णकम्

(हिन्दी अनुवाद सहितम्)

नमिऊण महावीरं, तिअसिंदनमंसियं महाभागं ।
गच्छायारं किंची, उद्धरिमो सुअसमुद्दाओ ॥ १ ॥

देवताओं के राजा इन्द्र भी जिसे नमस्कार करते हैं, उस महाभाग्यवान भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार करके, श्रुतसमुद्र से निकले, गच्छ के आचार रूपी कुछ मोतियों का वर्णन करता हूँ ॥

नत्वा महावीरं, त्रिदशेन्द्रनमस्यितं महाभागम् ।
गच्छाचारं किञ्चिद्, उद्धरामः श्रुतसमुद्रात् ॥ १ ॥

"नमिऊण" 'क्त्वस्तुमत्तूणतुआणाः' ॥ ८।२।१४६॥ हे० इति सूत्रेण क्त्वाप्रत्ययस्य तूण आदेशः, 'क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्' ॥८।१।१७७। हे० ॥ इति सूत्रेण तकारस्य लुक्; 'एच्च क्त्वा-तुम-तव्य-भविष्यत्सु' ॥ ८ । ३ । १५७ ॥ हे० ॥ इति सूत्रेण इकारादेश ॥ नमिऊण ॥

"तिअसिद" त्रिदशेन्द्र 'सर्वत्र ल-ब-रामचन्द्रे' ॥८।२।७९॥ हे० ॥ इति सूत्रेण त्रिशब्दस्य रस्य लुक्, 'अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम्' ॥ ८ २।८९॥ हे० इति सूत्रेण अनाद्यभावान्न द्वित्वम्; 'क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्' ।८।१।१७७॥ हे० ॥ इति

अत्थेगे गोयमा ! पाणी, जे उम्मग्गपइट्ठिए ।
गच्छंमि संवसित्ताणं, भमई भवपरंपरं ॥ २ ॥

हे गौतम ! उन्मार्गगामी गच्छ में रह कर उस के फलस्वरूप कई एक प्राणी संचारचक्र में घूम रहे हैं ॥

अतः संसार से मुक्त अर्थात् जन्मजरामरण, शारीरिक एवं मानसिक कष्टों से बचने के लिये सन्मार्गगामी गच्छ में ही रहना चाहिये। ऐसे गच्छ में रहने से क्या लाभ होता है इसका अब वर्णन करते हैं—

जामद्ध-जाम-दिण-पक्खं, मासं संवच्छरंपि वा ।
संमग्गपट्ठिए गच्छे, संवसमाणस्स गोयमा ! ॥ ३ ॥

सूत्रेण दशशब्दस्य दकारस्य लुक्, 'श-षोः स' ॥८।१।२६०॥ हे० ॥ इति सूत्रेण शकारस्य सकारः तथा 'लुक्' ॥८।१।१०॥ हे० ॥ इति सूत्रेण सकारे अकारस्य लुक्; 'ङ-ञ-ण-नो व्यञ्जने' ॥८।१।२५॥ इति सूत्रेण नकारस्य अनुस्वारः ॥ तिअसिंद ॥

"नमंसियं" शब्दे तकारस्य "गच्छायार" शब्दे चकारस्य च 'क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्' ॥८।१।१७७। इति सूत्रेण लुक्, 'अवर्णो यश्रुतिः' ॥८।१।१८०॥ इति सूत्रेण यकारः ॥ १ ॥

सन्त्येके गौतम ! प्राणिनः, ये उन्मार्गप्रतिष्ठिते ।
गच्छे संवस्य, भ्रमन्ति भवपरम्पराम् ॥ २ ॥

यामार्द्ध-याम-दिन-पक्षं, मासं संवत्सरमपि वा ।
सन्मार्गप्रस्थिते गच्छे, संवसमानस्य गौतम ! ॥ ३ ॥

लीलाअलसमाणस्स, निरुच्छाहस्स वीमणं ।
पक्खाविक्खीइ अन्नेसिं, महाणुभागाण साहूणं ॥ ४ ॥
उज्जमं सव्वथामेसु, घोरवीरतवाइअं ।
लज्जं संकं अइक्कम्म, तस्स वीरिअं समुच्छले ॥ ५ ॥

हे गौतम! आधपहर, पहर, पक्ष, मास तथा वर्षभर अथवा इस से भी अधिक समय के लिये सन्मार्गगामी गच्छ में रहने से यह लाभ होता है कि यदि किसी को आलस्य आजाये, धर्मक्रियाएं करते हुए उसका उत्साह भंग हो जाए और मन खिन्न हो जाए तो ऐसी अवस्था में वह गच्छ में अन्य धर्मक्रियारत महाभाग्यवान साधुओं को देख कर तप आदि सर्व-क्रियाओं में घोर उद्यम करने लग जाता है और इस प्रकार उद्यम करता हुआ, उसके मनमें कार्य करने की जो लज्जा और पुरुषार्थ न करने की जो हिचकचाहट होती है उस को तिलाञ्जलि दे देता है और उस की आतमा में वीरता का संचार हो जाता है ।

लीलाऽलसायमानस्य निरुत्साहस्य विमनस्कस्य ।
पश्यतः अन्येषां महानुभागानां साधूनाम् ॥ ४ ॥
उद्यमं सर्वस्थामसु, घोरवीरतपादिकम् ।
लज्जां शङ्कामतिक्रम्य, तस्य वीर्यं समुच्छलेत् ॥ ५ ॥

"महानुभागाण" "साहूण" शब्दयोः 'क्त्वा स्यादेर्ण-स्वोर्वा' ॥८।१।२७॥ इति सूत्रेण विकल्पेनानुस्वारः ।

"वीरिअं" 'स्याद्-भव्य-चैत्य-चौर्यसमेषु यात्' ॥८।२।१०७ इति सूत्रेण यात्पूर्व इकारः, 'क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां' इति सूत्रेण यकारस्य लुक् ।

वीरिएणं त जीवस्स, समुच्छलिएणं गोयमा ! ।
जम्मंतरकए पावे, पाणी मुहुत्तेण निद्दहे ॥ ६ ॥

हे गौतम ! जिस समय इस जीव में वीरता का सञ्चार होता है तो यह जीव जन्मजन्मान्तर के पापों को एक मुहूर्त भर में धो डालता है ॥

तम्हा निउणं निहालेउ, गच्छं सम्मग्गपट्ठियं ।
वसिज्ज तत्थ आजम्म, गोयमा ! संजए मुणी ॥ ७ ॥

इस लिये जो गच्छ सन्मार्ग पर चल रहा है, उस को भली प्रकार देख भाल कर संयत मुनि उस में आजीवन रहे ॥

अब प्रश्न होता है कि कैसे पता चले कि यह गच्छ सन्मार्ग पर चल रहा है अथवा उन्मार्ग पर ? इस बात का पता लगाने के लिये कि अमुक संस्था कैसी है तो सर्व प्रथम उस

वीर्येण तु जीवस्य, समुच्छलितेन गौतम ! ।
जन्मान्तरकृतानि पापानि, प्राणी मुहूर्त्तेन निर्दहेत ॥ ६ ॥
तस्मान्निपुणं निभाल्य, गच्छं सन्मार्गप्रस्थितम् ।
वसेत्तत्र आजन्म, गौतम ! संयतो मुनिः ॥ ७ ॥

"निउणं" 'क-ग-च-ज०' इति सूत्रेण पकारस्य लुक् ॥

"निहालेउ" 'क्त्वस्तुमत्तूण-तुआणा;' ॥८।२।१४६॥ इति सूत्रेण क्त्वाप्रत्ययस्य तुमादेशः, 'क-ग-च-ज' इति सूत्रेण तकारस्य लुक्, 'एच्च क्त्वा-तुम-तव्य-भविष्यत्सु' ।८।३।१५७॥ इति सूत्रेण एकारादेशः ॥

"वसिज्जा" 'वर्तमाना-भविष्यन्त्योश्च ज्ज ज्जा वा' ॥ ८ ।३। १७७ ॥ इति सूत्रेण विध्यर्थे प्रत्ययस्य 'ज्ज' आदेशः, ॥

संस्था के प्रमुख के आचार विचार प्रकृति स्वभाव अनुशासन शक्ति आदि गुणों पर दृष्टि डालनी पड़ती है क्योंकि जो गुणदोष प्रमुख में होते हैं वे प्रायः उस के अनुयायियों में आ ही जाते हैं। अतः निष्कर्ष यह निकला कि गच्छ के अच्छे बुरे का दारोमदार प्रायः उस गच्छ के आचार्य पर है इस लिये ग्रन्थकार सर्व प्रथम गच्छ के आचार्य के सम्बन्ध में ही कहते हैं ॥

मेढी आलंबणं खंभं, दिट्ठी जाणं सुउत्तिमं ।
सूरी जं होइ गच्छस्स, तम्हा तं तु परिक्खए ॥ ८ ॥

जो गच्छ का मेढी प्रमाण अर्थात् गच्छ के सब कार्य जिस के चारों ओर चक्र काट रहे हैं, जो गच्छ का आधार है, जो गच्छ के सब साधु साध्वियों को संगठित रूप में रख रहा है, जो सब को दृष्टि सदृश हिताहित दिखाने वाला और यान सदृश संसार समुद्र से पार उतारने वाला है, उत्तम गुणों से युक्त है ऐसे गच्छ के आचार्य की सर्वप्रथम परीक्षा करे।

मेढी—खलयान का स्तम्भ, जिस के चारों ओर बैल

मेथिरालम्बनं स्तम्भः, दृष्टिर्यानं सूत्तमम् ।
सूरिर्यस्माद् भवति गच्छस्य, तस्मात्तं तु (एव) परीक्षेत ॥८॥

"मेढी" 'मेथि-शिथिर-शिथिल-प्रथमे थस्य ढः' ॥८।१।२१५॥ इति सूत्रेण थस्य ढः ॥

'सुउत्तिमं' 'इः स्वप्नादौ' ॥८।१।४६॥ इति सूत्रेण अकारस्य इत्वम् ॥

घूमते हैं। इसी प्रकार आचार्य गच्छ की सब प्रवृत्तियों का केन्द्र होता है। आलम्बन—गिरते हुओं को सहारा देने वाला, खंभं—जो गिरे तो नहीं परन्तु गिरने वाले हैं उन को गिरने से पहले ही सम्भालने वाला ॥

भयवं ! केहिं लिंगेहिं सूरिं उम्मग्गपट्ठियं ।
वियाणिज्जा छउमत्थे ?, मुणी तं मे निसामय ॥ ६ ॥

शिष्य गुरु से प्रश्न करता है, हे भगवन् ! एक छद्मस्थ मुनि को कैसे पता चले कि इन २ कारणों से यह आचार्य उन्मार्ग पर जा रहे हैं ? गुरु उत्तर देते हैं कि उन कारणों को तुम मेरे से सुनो ॥

सच्छंदयारिं दुस्सीलं, आरंभेसु पवत्तयं ।
पीठयाइपडिबद्धं आउकायविहिंसग ॥ १० ॥
मूलुत्तरगुणब्भट्ठं, सामायारीविराहअं ।
अदिन्नालोअणं निच्चं, निच्च विगहपरायणं ॥ ११ ॥

भगवन् ! कैर्लिङ्गैः, सूरिमुन्मार्गप्रस्थितम् ।
विजानीयात् छद्मस्थः ?, मुने ! तन्मे निशामय ॥ ६ ॥

"वियाणिज्जा" 'वर्तमान-भविष्यन्त्योश्च ज्ज ज्जा वा' ॥८।३।१७७॥ इति सूत्रेण विध्यर्थे ज्जा आदेशः ॥

स्वच्छन्दचारिणं दुःशील-मारम्भेषु प्रवर्तकम् ।
पीठकादिप्रतिबद्धं, अप्कायविहिंसकम् ॥ १० ॥
मूलोत्तरगुणभ्रष्टं, सामाचारीविराधकम् ।
अदत्तालोचनं नित्यं, नित्यं विकथापरायणम् ॥ ११ ॥

"पडिबद्धं" 'प्रत्यादौ डः' ॥८।१।२०६॥ इति सूत्रेण तस्य डः ॥
"मूलुत्तर" 'लुक्' ॥८।१।१०॥ इति सूत्रेण लस्य अकारस्य

जो आचार्य स्वच्छंदता का आचरण करता हो, अपनी वृत्ति से विरुद्ध कार्य करते हुए आरम्भ में प्रवृत्ति करता हो, तथा पीठ फलक आदि में आसक्त हो, अप्काय की हिंसा तक कर जाए। वह अपने मूल तथा उत्तर गुणों में दोष लगादे और समाचारी की विराधना कर डाले फिर भी इन दोषों की आलोचना न करता हो और नित्य विकथा में ही लगा रहे वह आचार्य उन्मार्गगामी है ॥

छत्तीसगुणसमन्नागएण, तेणवि अवस्स कायव्वा ।
परसक्खिआ विसोही, सुट्ठुवि ववहारकुसलेणं ॥१२॥

छत्तीस गुणों से युक्त आचार्य को भी दूसरे की साक्षी से अपने दोषों की आलोचना करके शुद्धि करनी चाहिये और

लुक् ॥

"ब्भट्ठं" 'सर्वत्र ल-ब-रामवन्द्रे' ॥८।२।७६॥ इति सूत्रेण 'भ्र' इत्यस्य रकारस्य लुक्, 'समासे वा' ।८।२।६७॥ इति सूत्रेण भस्य द्वित्वम्, 'द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः' ॥८।२।६०॥ इति सूत्रेण चतुर्थस्योपरि तृतीयः, अस्य फलस्वरूपेण पूर्वस्य भकारस्य बकारः ॥ 'ष्टस्यानुष्ट्रेष्टासंदष्टे' ।८।२।३४॥ इति सूत्रेण ष्टस्य ठः, 'अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम्'॥ ८।२।८६॥ इति सूत्रेण द्वित्वम्, 'द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः' ॥८।२।६०॥ इति सूत्रेण पूर्वस्य ठकारस्य टकारः ॥

"विराहअं" 'ख-घ-थ-ध-भाम्' ॥८।१।१८७॥ इति सूत्रेण धस्य हः ।

'निच्च" त्योचैत्ये' ॥८।२।१३॥ इति सूत्रेण त्यस्य चः, 'अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम्' इति सूत्रेण द्वित्वम् ॥

षट्त्रिंशद्गुणसमन्वागतेन, तेनापि अवश्यं कर्तव्या ।
परसाक्षिका विशोधिः, सुष्ठ्वपि व्यवहारकुशलेन ॥ १२ ॥

अपनी व्यवहारकुशलता का एक भव्य आदर्श उपस्थित करना चाहिये ॥

अब ग्रन्थकार इस बात को एक दृष्टान्त द्वारा भली प्रकार स्पष्ट करते हैं ॥

जइ सुकुसलोऽवि विज्जो, अन्नस्स कहेइ अत्तणो वाहिं ।
विज्जुवएसं सुच्चा, पच्छा सो कम्ममायरइ ॥ १३ ॥

जिस प्रकार एक वैद्य चिकित्सा में कुशल होता हुआ भी अपनी बीमारी को किसी दूसरे वैद्य के पास कहता है और जैसा वह कहे वैसा आचरण करता है इसी प्रकार व्यवहारकुशल आचार्य दूसरे की साक्षी से अपने दोषों की शुद्धि करते हैं और समाचारी का स्वयं दृढ़तापूर्वक पालन करते हुए अन्य साधुओं के समक्ष आदर्श उपस्थित करते हैं ॥

इस के अतिरिक्त गच्छ के आचार्य को और क्या करना चाहिये इस का वर्णन करते हैं —

यथा सुकुशलोऽपि वैद्यो-ऽन्यस्य कथयति आत्मनो व्याधिम ।
वैद्यापदेशं श्रुत्वा, पश्चात् स कर्म आचरति ॥ १३ ।

'विज्जो'' 'द्य-य्य-र्यां जः' । ८।२।२४।। इति सूत्रेण द्यस्य जः, 'अनादौ०' इति सूत्रेण द्वित्वम् । ह्रस्वः संयोगे ८।१।८४।। इति सूत्रेण ऐकारस्य इकारः ।।

सुच्चा'' 'त्व-थ्व-द्व-ध्वां च-छ-ज-झाः क्वचित्' ।।८।२।१५।। इति सूत्रेण त्वस्य चः, 'अनादौ०' इति सूत्रेण द्वित्वम् ।।

पच्छा'' 'ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले' ।।८।२।२१ ।। इति सूत्रेण श्चस्य छः, 'अनादौ०' इति सूत्रेण द्वित्वम्, 'द्वितीय-तुर्योरुपरि पूर्वः' इति सूत्रेण छस्य चः ॥

देसं खित्तं तु जाणित्ता, वत्थं पत्तं उवस्सयं ।
संगहे साहुवग्गं च, सुत्तत्थं च निहालई ॥ १४ ॥

गच्छ का आचार्य आगमों का चिन्तन मनन तथा उस के अनुसार आचरण करता हुआ साधुवर्ग का संग्रह करता है और देशकालानुसार उनके लिये वस्त्र पात्र तथा योग्य उपाश्रय (वसति) आदि का ध्यान रखता है ॥

जो आचार्य अपने शिष्यों की सार संभाल नहीं करता अब उस के विषय में कहते हैं—

संगहोवग्गहं विहिणा, न करेइ अ जो गणी ।
समणं समणिं तु दिक्खित्ता, सामायारिं न गाहए ॥ १५॥
बालाणं जो उ सीसाणं, जीहाए उवलिंपए ।
न सम्ममग्गं गाहेइ, सो सूरी जाण वेरिओ ॥ १६ ॥

जो आचार्य साधुओं का विधिपूर्वक संग्रह और उनकी रक्षा नहीं करता है । साधु साध्वियों को दीक्षा तो दे देता है परन्तु उन को साधुओं के नियमोपनियमों का पालन नहीं करवाता

देशं क्षेत्रं तु ज्ञात्वा, वस्त्रं पात्रमुपाश्रयम् ।
संगृह्णीत साधुवर्गं च, सूत्रार्थं च निभालयति ॥ १४ ॥

संग्रहोपग्रहं विधिना, न करोति च यो गणी ।
श्रमणं श्रमणीं तु दीक्षित्वा, सामाचारिं न ग्राहयेत् ॥ १५ ॥

बालानां यस्तु शिष्याणां, जिह्वया उपलिम्पेत् ।
न सम्यग्मार्गं ग्राहयति, स सूरिर्जानीहि वैरी ॥ १६ ॥

और समाचारी नहीं सिखाता तथा नवदीक्षित शिष्यों को लाड प्यार में रखता है उन्हें सन्मार्ग पर स्थित नहीं करता है ऐसा आचार्य अपने शिष्यों का गुरु नहीं अपितु शत्रु है, उन का अहित करने वाला है ॥

जीहाए विलिहितो, न भद्दओ सारणा जहिं नत्थि ।
डंडेणवि ताडंतो, स भद्दओ सारणा जत्थ ॥ १७ ॥

जिह्वा के द्वारा मीठे मीठे वचन बोलता हुआ जो आचार्य अपने गच्छ के आचार की रक्षा नहीं कर सकता वह आचार्य अपने गच्छ का कल्याणकर्ता नहीं माना जाता, इस के विपरीत मीठे मीठे वचन न भी बोलकर अपितु दण्ड-यष्टि से भी आचार्य अपने शिष्यों को ताड़ता है और उस से गच्छ की रक्षा होती है, तो वह आचाय कल्याणरूप है ॥

गुरु के प्रमाद करने पर शिष्य का भी क्या कर्तव्य है अब इस विषय में कहते हैं—

सीसोऽवि वेरिओ सो उ, जो गुरुं न विबोहए
पमायमइराघत्थं, सामायारीविराहयं ॥ १८ ॥

जिह्वया विलिहन्, न भद्रक. सारणा (स्मारणा) यत्र नास्ति ।
दण्डेनापि ताडयन्, स भद्रकः सारणा यत्र ॥ १७ ॥

"डंडेण" दशन-दष्ट-दग्ध-दोला-दण्ड-दर-दम्भ-दर्भ-कदन-दोहदे दो वा डः' ॥८।१।२१७॥ इति सूत्रेण दकारस्य वा डकारः, 'वर्गेन्त्यो वा' ॥८।१।३०॥ इति सूत्रेण टवर्गस्यान्त्यो वा ॥

शिष्योऽपि वैरी स तु, यो गुरुं न विबोधयति ।
प्रमादमदिराग्रस्तं , सामाचारीविराधकम् ॥ १८ ॥

यदि गुरु किसी समय प्रमाद के वशीभूत हो जाए और गच्छ के नियमोपनियमरूप समाचारी का यथाविधि पालन न करे तब वह शिष्य जो अपने गुरु को सावधान नहीं करता वह भी अपने गुरु का शत्रु माना जाता है ॥

उपरोक्त अवस्था में शिष्य अपने गुरु को किन शब्दों में सावधान करे अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

तुम्हा रसावि मुणिवर !, पमायवसगा हवंति जइ पुरिसा।
तेणऽन्नो को अम्हं[१], आलम्बन हुज्ज संसारे? ॥१९॥

हे मुनिओं में प्रधान! गुरुदेव !! यदि आप जैसे समर्थ महापुरुष भी प्रमाद के वशीभूत हो जाएंगे, तो आप को छोड़ कर हमें इस संसार में किस का सहारा रहेगा ?

अब पुनः गणी के विषय में वर्णन करते हैं—

नाणंमि दंसणम्मि अ, चरणंमि य तिसुवि समयसारेसु।
चोएइ जो ठवेउं, गणमप्पाणं च सो अ गणी ॥ २० ॥

जिनवाणी का सार ज्ञान, दर्शन और चरित्र है जो अपनी आत्मा को तथा समस्त गण को इन तीनों गुणों में स्थापन करने के लिये प्रेरणा करता रहता है वही वास्तव में गच्छ के स्वामी आचार्य महाराज हैं ॥

युष्मादृशा अपि मुनिवर!, प्रमादवशगा भवन्ति यदि पुरुषाः।
तेनाऽन्यः कोऽस्माकमा-लम्बनं भविष्यति संसारे ? ॥ १९ ॥
ज्ञाने दर्शने चरणे च, त्रिष्वपि समयसारेषु ।
नोदयति यः स्थापयितुं, गणमात्मानं च स च गणी ॥ २० ॥

---

१. 'तो को अन्नो अम्हं' इति पाठान्तरम्

पिंडं उवहिं च सिज्ज, उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं ।
चारित्तरक्खणट्ठा, सोहिंतो होइ स चारित्ती ॥२१॥

भोजन वस्त्र मकान तथा अन्य संयम सहायक सामग्री के उद्गमण आदि दोषों को वर्जता हुआ जो अपने चारित्र की रक्षा करता है वास्तव में वह चारित्री है ॥

अप्परिस्सावि सम्मं, समपासी चेव होइ कज्जेसु ।
सो रक्खइ चक्खुं पिव, सबालवुड्ढाउलं गच्छं ॥ २२ ॥

उपरोक्त गुणयुक्त आचार्य जो गच्छ के नानाविध कार्यों को समभावपूर्वक करता हुआ अपनी भावनाओं में तनिक भी मलिनता नहीं आने देता, वह आचार्य गच्छ के छोटे से लेकर बड़े तक सब सदस्यों की अपनी चक्षु के सदृश रक्षा करता है ।।

सीआवेइ विहारं, सुहसीलगुणेहिं जो अबुद्धिओ ।
सो नवरि लिंगधारी, संजमजोएण निस्सारो ॥ २३ ॥

जो अज्ञानी आरामतलबी में पड़कर विहार करने में दुःख मानता है वह संयमसार से रहित केवल वेषधारी है ॥

पिण्डमुपधिं शय्यां, उद्गमोत्पादनैषणाशुद्धम् ।
चारित्ररक्षणार्थं, शोधयन् भवति स चारित्री ॥ २१ ॥
अपरिश्रावी सम्यक्, समदर्शी चैव भवति कार्येषु ।
स रक्षतिचक्षुरिव सबालवृद्धाकुलं गच्छम् ॥ २२ ॥
सीदयति विहारं, सुखशीलगुणैर्योऽबुद्धिकः ।
स नवरि लिङ्गधारी, संयमयोगेन निस्सारः ॥ २३ ॥

कुलगामनगररज्जं पयहिअ जो तेसु कुणई हु ममत्तं ।
सो नवरि लिंगधारी, संजमजोएण निस्सारो ॥२४॥

कुल, ग्राम, नगर अथवा किसी राज्य में जाकर तथा वहां रह कर जो उस पर ममत्वभाव रखता है वह संयमसार से रहित केवल वेषधारी है ॥

विहिणा जो उ चोएइ, सुत्तं अत्थं च गाहई ।
सो धण्णो सो अ पुण्णो य, स बधू मुक्खदायगो ॥२५ ।

जो आचार्य शिष्यसमुदाय को आत्मोत्थान की प्रेरणा करता रहता है उन्हें सूत्रों का अर्थ और उनका मर्म समझाता रहता है, वह आचार्य मुमुक्षुओं को मोक्ष में पहुँचाने वाला उन का परम बन्धु है और वह अति पुण्यवान् आचार्य संसार के लिये धन्य है ॥

स एव भव्वसत्ताणं, चक्खुभूय विआहिए ।
दंसेइ जो जिणुद्दिट्ठं, अणुट्ठाणं जहट्ठिअं ॥ २६ ॥

जो आचार्य भव्यप्राणियों को वीतराग भगवान् का यथार्थ

कुलग्रामनगरराज्यं, प्रहाय यस्तेषु करोति हु ममत्वम् ।
स नवरि लिङ्गधारी, संयमयोगेन निस्सारः ॥ २४ ॥
विधिना यस्तु नोदयति, सूत्रमर्थं च ग्राहयति ।
स च धन्यः स च पुण्यश्च, स बन्धुर्मोक्षदायकः ॥ २५ ॥
स एव भव्यसत्त्वानां, चक्षुर्भूतो व्याहृतः ।
दर्शयति यो जिनोद्दिष्ट—मनुष्ठाणं यथास्थितम् ॥ २६ ॥

मार्ग दिखाता है वह उन के लिये चक्षुभूत होता है ऐसा ज्ञानियों का कथन है ।।

तित्थयरसमो सूरी, सम्मं जो जिणमयं पयासेइ ।
आणं अइक्कमंतो सो, कापुरिसो न सप्पुरिसो । २७ ॥

जो आचार्य वीतराग भगवान् के सच्चे मार्ग का संसार में सर्वव्यापी प्रचार करता है वह तीर्थंकर के सदृश माना जाता है और जो आचार्य भगवान् की आज्ञा का न तो स्वयं सम्यक्तया पालन करता है और न हि यथार्थरूपेण वर्णन करता है, वह सत्पुरुषों की कोटि में नहीं गिना जा सकता ॥

भट्ठायारो सूरी, भट्ठायाराणुविक्खिओ सूरी
उम्मग्गठिओ सूरी, तिन्निवि मग्गं पणासंति ॥ २८ ॥

तीन प्रकार के आचार्य, भगवान् के मार्ग को दूषित करते हैं

(१) वह आचार्य जो स्वयं आचारभ्रष्ट है ।

(२) वह आचार्य जो स्वयं तो आचारभ्रष्ट नहीं परन्तु अपने गच्छ के आचारभ्रष्टों की उपेक्षा करता है अर्थात उन का सुधार नहीं करता ।

(३) जो आचार्य भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध प्ररूपणा तथा आचरण करता है ।

तीर्थंकरसमः सूरिः, सम्यग् यो जिनमतं प्रकाशयति ।
आज्ञामतिक्राम्यन् स, कापुरुषो न सत्पुरुषः ॥ २७ ॥

भ्रष्टाचारः सूरि—र्भ्रष्टाचाराणामुपेक्षकः सूरिः ।
उन्मार्गस्थितः सूरि—स्त्रयोऽपि मार्गं प्रणाशयन्ति ॥ २८ ॥

उम्मग्गठिए सम्मग्ग-नासए जो उ सेवए सूरी ।
निअमेणं सो गोयम !, अप्पं पाडेइ संसारे ॥ २६ ॥

जो आचार्य उन्मार्गगामी है और सम्यग् मार्ग का लोप कर रहा है ऐसे आचार्य की सेवा करने वाला शिष्य निश्चय से संसार समुद्र में गोते खाता है ॥

उम्मग्गठिओ इक्कोऽवि, नासए भव्वसत्तसंघाए ।
तं मग्गमणुसरंते, जह कुतारो नरो होइ ॥ ३० ॥

जिस को भलीप्रकार तैरना नहीं आता जैसे वह स्वयं डूबता है और साथ में अपने साथियों को भी ले डूबता है इसी प्रकार उलटे मार्ग पर चलता हुआ एक व्यक्ति भी कई एक को ले डूबता है ।

उम्मग्गमग्गसंपट्ठिआण, साहूण गोयमा ! णूणं ।
संसारो य अणंतो, होइ य सम्मग्गनासीणं ॥ ३१ ॥

सत्य मार्ग का लोप करके उलटे मार्ग पर चलने वाले आचार्य निश्चय ही अनंत संसार के चक्र में पड़ जाते हैं ॥

उन्मार्गस्थितान् सन्मार्ग-नाशकान् यस्तु सेवते सूरीन् ।
नियमेन स गौतम !, आत्मानं पातयति संसारे ॥ २६ ॥
उन्मार्गस्थित एकोऽपि, नाशयति भव्यसत्त्वसङ्घातान् ।
तं मार्गमनुसरतोः, यथा कुतारो नरो भवति ॥ ३० ॥
उन्मार्गमार्गसम्प्रस्थितानां, साधूनां गौतम ! नूनम् ।
संसारश्चानन्तो, भवति सन्मार्गनाशिनाम् ॥ ३१ ॥

सुद्धं सुसाहुमग्गं, कहमाणो ठवइ तइयपक्खंमि ।
अप्पाणं इयरो पुण, गिहत्थधम्माओ चुक्केति ॥ ३२ ॥

भगवान् के वास्तविक शुद्ध धर्म का प्ररूपण करते हुए यदि कोई सम्यग्दर्शन का आराधक होजाए तो वह तीसरे भव में मोक्ष प्राप्त कर सकता है और दूसरी ओर बड़े से बड़ा आचारवान भी यदि भगवान् के धर्म का लोप कर रहा हो तो वह गृहस्थ धर्म से भी भ्रष्ट हो जाता है; क्योंकि वह गृहस्थ अपने गृहस्थ धर्म का वास्तविक पालन करते हुए सम्यग्दर्शन से तो युक्त है परन्तु उस जिनमार्गलोपी साधु के पास तो सम्यग्दर्शन भी नहीं रहता । और बिना दर्शन के सच्चा आचार कहां ?

जइवि न सक्कं काउं, सम्मं जिणभासिअं अणुट्ठाणं ।
तो सम्मं भासिज्जा, जह भणिअं खीणरागेहिं ॥ ३३ ॥
ओसन्नोऽवि विहारे, कम्मं सोहेइ सुलभबोही अ ।
चरणकरणं विसुद्धं, उववूहिंतो परूविंतो ॥ ३४ ॥

यदि तू भगवान् के कथनानुसार आचरण नहीं कर सकता तो कम से कम जैसा वीतराग भगवान् ने प्रतिपादन किया है वैसा

शुद्धं सुसाधुमार्गं, कथयन् स्थापयति तृतीयपक्षे ।
आत्मानमितरः पुनः, गृहस्थधर्माद् भ्रश्यति ॥ ३२ ॥
यद्यपि न शक्यं कर्तुं, सम्यग् जिनभाषितमनुष्ठानम् ।
ततः सम्यग् भाषेत, यथा भणितं क्षीणरागैः ॥ ३३ ॥
अवसन्नोऽपि विहारे, कर्म शोधयति सुलभबोधिश्च ।
चरणकरणं विशुद्धं, उपबृंहयन् प्ररूपयन् ॥ ३४ ॥

तो तुझे कथन करना ही चाहिये क्योंकि कोई एक व्यक्ति आचरण की दृष्टि से शिथिलाचारी होते हुए भी यदि वह भगवान् के विशुद्ध मार्ग का यथार्थरूपेण बलपूर्वक वर्णन करता है तो वह अपने कर्मों को क्षय रहा है उस की आत्मा विशुद्ध हो रही है और वह आगे के लिये सुलभबोधी बन जाता है॥

सम्मग्गमग्गसंपट्ठिआण, साहूण कुणइ वच्छल्ल ।
आसहभेसज्जेहि य, सयमन्नेणं तु कारेइ ॥ ३५ ॥

जो साधक आत्माएं प्रशस्तमार्गारूढ हैं उनसे अधिक प्रेम करना चाहिये तथा उन की औषध आदि से स्वयं सेवा करनी तथा अन्य से करवानी चाहिये।

भूए अत्थि भविस्संति, केइ तेलुक्कनमिअकमजुअला।
जेसिं परहिअकरणेक्क-बद्धलक्खाण वोलिही कालो ॥ ३६ ॥

ऐसे महापुरुष पीछे हुए हैं, अब हैं और आगे होते रहेंगे जिन की आयु का एक क्षण दूसरों का भला करने में व्यतीत हुआ और जिन के चरण कमलों में तीनों लोकों के प्राणी नमस्कार करते हैं॥

सन्मार्गमार्गसम्प्रस्थितानां, साधूनां करोति वात्सल्यम्।
औषधभैषजैश्च, स्वयं अन्येन तु कारयति ॥ ३५ ॥
भूताः सन्ति भविष्यन्ति, केचित् त्रैलोक्यनतक्रमयुगलाः।
येषां परहितकरणैक—बद्धलक्षाणां जगाम कालः ॥ ३६ ॥

"वोलिही" 'गमेरई०' ८।४।१६२॥ इति सूत्रेण गमधातो-र्वोलादेशः ॥

तीआणागयकाले, केई होहिंति गोअमा ! सूरी ।
जेसिं नामग्गहणेवि, हुज्ज नियमेण पच्छित्तं ॥ ३७ ॥

हे गौतम ! तीनों कालों में ऐसे भी आचार्य होते रहते हैं जिन के केवल नामोच्चारणमात्र से प्रायश्चित आता है ।

टिप्पण—हर समय अच्छे तथा बुरे दोनों प्रकार के व्यक्ति होते हैं अतः साधक आत्मा को सतर्कता से अप्रमत्त होकर विचरण करना चाहिये ।

जओ-सयरी भवंति अणविक्खयाइ, जह भिच्चवाहणालोए ।
पडिपुच्छसोहिचोअणा. तम्हा उ गुरू सया भयइ ॥ ३८ ॥

जैसे संसार में घोड़ा, बैल तथा नौकर आदि अपने स्वामी की देख भाल न होने पर स्वच्छन्द होकर कार्य बिगाड़ देते हैं, इसी प्रकार बिना पूछ ताछ और देख भाल तथा प्रेरणा के शिष्य भी स्वछन्द होकर अपनी तथा दूसरों की हानि कर बैठते हैं इस लिये गुरु शिष्य को सदैव शिक्षा देता रहता है ॥

जो उ प्पमायदोसेणं, आलस्सेणं तहेव य ।
सीसवग्गं न चोएइ, तेण आणा विराहिआ । ३९ ॥

जो आचार्य आलस्य प्रमाद तथा अन्य किसी दोष के कारण

अतीतानागतकाले, केचिद् भविष्यन्ति गौतम ! सूरयः ।
येषां नामग्रहणेऽपि भवति नियमेन प्रायश्चित्तम् ॥ ३७ ॥
यतः-स्वैरीणि भवन्ति अनपेक्षया, यथा भृत्यवाहनानि लोके ।
प्रतिपृच्छाशोधिचोदनादिभिः(विना शिष्याः),तस्मात्तु गुरुः सदा भजते
यस्तु प्रमाददोषेण, आलस्येन तथैव च ।
शिष्यवर्गं न प्रेरयति, तेनाज्ञा विराधिता ॥ ३९ ॥

संयम से विपरीत मार्ग पर जाते हुए शिष्यसमुदाय को रोकता नहीं है तो वह आचार्य तीर्थङ्कर महाराज की आज्ञा का विराधक है ॥

संखेवेणं मए सोम्म !, वण्णिअं गुरुलक्खणं ।
गच्छस्स लक्खणं धीर !, संखेवेणं निसामय ॥ ४० ॥

गुरु अपने शिष्य से कहता है कि अयि ! सौम्य शिष्य !! यह मैंने आचार्य का संक्षेप में वर्णन किया है। हे धैर्यवान् ज्ञान-गुणनिधे ! अब तुम गच्छ के क्या लक्षण हैं वह मेरे से संक्षेप में सुनो ॥

यहां आचार्यस्वरूपनिरूपण नाम का प्रथम अधिकार समाप्त होता है और साधुस्वरूप निरूपण नामक दूसरा अधिकार आरम्भ होता है—

गीयत्थे जे सुसंविग्गे, अणालसी दढव्वए ।
अक्खलियचरित्ते सययं, रागद्दोसविवज्जए ॥ ४१ ॥

गच्छ, वास्तव में वही गच्छ है जिस के साधु गीतार्थ हैं अर्थात् जिन्हें शास्त्रों का सम्यग् बोध है जो मोक्षार्थी अपनी आत्मा को उत्तरोत्तर शुद्ध बना रहे हैं। आलस्य जिन के समीप तक नहीं फटकता। अपने व्रतों का दृढ़तापूर्वक जो पालन कर रहे हैं और जो सदैव रागद्वेष को छोड़ते जा रहे हैं ॥

संक्षेपेण मया सौम्य !, वर्णितं गुरुलक्षणम् ॥
गच्छस्य लक्षणं धीर !, संक्षेपेण निशामय ॥ ४० ॥
गीतार्थो यः सुसंविग्नः, अनालस्यी दृढव्रतः ।
अस्खलितचारित्रः सततं, रागद्वेषविवर्जितः ॥ ४१ ॥

गच्छ में रहते हुए अनेकों के संसर्ग में आना पड़ता है अतः किन के सहवास में रहना चाहिये इस का वर्णन करते हुए सहवास का महत्त्व भी बताते हैं—

निट्ठविअअट्ठमयठाणे, सुसिअकसाए जिइंदिए ।
विहरिज्ज तेण सद्धिं तु, छउमत्थेणवि केवली ॥ ४२ ॥

केवलज्ञानयुक्त केवली भी ऐसे छद्मस्थों के साथ रहे, जिन्हों ने आठों प्रकार के मद अपनी आत्मा से पृथक् कर दिये हैं कषायों को बहुत पतला कर दिया है और जो इन्द्रियों तथा मन को अपने वश में किये हुए हैं ॥

टिप्पण—जब केवली के लिये भी शुद्ध सहवास में रहना कहा है तो छद्मस्थ को जिसकी आत्मा के साथ मोहनीय कर्म लगा हुआ है उसे तो अवश्य अति शुद्ध सहवास में ही रहना चाहये ॥

संग किस का छोड़ देना चाहिये अब इस विषय का वर्णन करते है—

जे अणहिअपरमत्थे, गोअमा ! संजया भवे ।
तम्हा तेवि विवज्जिज्जा, दोग्गइपंथदायगे ॥ ४३ ॥

जो साधु तो बने हुए हैं परन्तु परमार्थ से अनभिज्ञ हैं उन का सहवास दुर्गति पथ में डालने वाला है इस लिये हे गौतम ! उन

निष्ठापिताष्टमदस्थानः, शोषितकषायो जितेन्द्रियः ।
विहरेत् तेन सार्द्धं तु, छद्मस्थेनापि केवली ॥ ४२ ॥
येऽनधीतपरमार्थाः, गौतम ! संयताः भवन्ति ।
तस्मात्तानपि विवर्जयेत्, दुर्गतिपथदायकान् ॥ ४३ ॥

अगीतार्थों के साधु होने पर भी उन का संग छोड़ देना चाहिये ॥

अब गीतार्थ की महत्ता का वर्णन करते हैं--

गीअत्थस्स वयणेणं, विसं हालाहलं पिबे ।
निव्विकप्पो य भक्खिज्जा, तक्खणे जं समुद्दवे ॥ ४४ ॥
परमत्थओ विसं णो तं, अमयरसायणं खु तं ।
निव्विग्घं जं न तं मारे, मओऽवि अमयस्समो ॥ ४५ ॥

गीतार्थ =सूत्रार्थ के मर्मज्ञाता के वचन, भले ही वे हालाहल विष के समान प्रतीत होते हों और उन वचनों से उस का मरण भी क्यों न होता हो परन्तु फिर भी साधक आत्मा उन वचनों को विना संकोच सहर्ष स्वीकार करे। क्योंकि ये वचन परमार्थ में= वास्तव में विष नहीं हैं अपितु विघ्न-बाधा से रहित अमृततुल्य हैं। यदि उन गीतार्थों के वचनों को मान्य रखते हुए उस की उस समय मृत्यु भी क्यों न होजाए फिर भी वे वचन अन्त में उस को अजर अमर बना देने वाले हैं।

अगीअत्थस्स वयणेणं, अमयंपि न घुंटए।
जेण नो तं भवे अमयं, जं अगीयत्थदेसियं ॥ ४६ ॥

गीतार्थस्य वचनेन, विषं हालाहलं पिबेत् ।
निर्विकल्पश्च भक्षयेत्, तत्क्षणे यत् समुद्रावयेत् ॥ ४४ ॥
परमार्थतो विषं न तद्-मृतरसायनं खलु तत् ।
निर्विघ्नं यद् न तद् मारयति, मृतोऽपि अमृतसमः ॥ ४५ ॥
अगीतार्थस्य वचनेन, अमृतमपि न पिबेत् ।
येन न तद् भवेदमृतं, यदगीतार्थदेशितम् ॥ ४६ ॥

परमत्थत्रो न तं अमयं, विसं हालाहलं खु तं ।
न तेण अजरामरो हुज्जा, तक्खणा निहणं वए ॥ ४७ ॥

सूत्रार्थ से जो अनभिज्ञ है उस के वचनों द्वारा कही हुई अमृत-तुल्य बात भी ग्रहण न करे क्योंकि अगीतार्थ की कही हुई बात अमृतरूप नहीं होती । भले ही वह ऊपर से अमृतसमान प्रतीत होती हो परन्तु वह वास्तव में अमृत नहीं वह हालाहल जीवन-नाशक एक उत्कट विष है । उस के पान करने से जीव मृत्यु को प्राप्त होता है और वह कभी जन्ममरण के चक्कर से नहीं निकल सकता ॥

अगीयत्थकुसीलेहिं, संगं तिविहेण वोसिरे ।
मुक्खमग्गस्सिमे विग्धे, पहंमि तेणगे जहा ॥ ४८ ॥

परमार्थ को न जानने वाले, जिनका कुत्सित आचार है उनके सहवास को तीन करण तीन योग से त्याग दे अर्थात् मन से भी उन के साथ न रहे और वचन आदि के द्वारा उन से प्रीति न बढ़ावे उन से हर समय बचने का, अपनी आत्म को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करे उन को अपनी मोक्षसाधना में विघ्नरूप समझे; जिस प्रकार एक पथिक को मार्ग के चोर एवं लुटेरों से सावधान होकर चलना पड़ता है इसी प्रकार मोक्षाभिलाषी को इन अगीतार्थ तथा कुत्सित आचरण वालों से सावधान एवं अप्रमत्त होकर विचरण करना चाहिये ।

परमार्थतो न तदमृतं, विषं हालाहलं खलु तत् ।
न तेनाजरामरो भवेत् , तत्क्षणात् निधनं व्रजेत् ॥ ४७ ॥
अगीतार्थकुशीलैः , सङ्गं त्रिविधेन व्युत्सृजेत् ।
मोक्षमार्गस्येमे विघ्नाः , पथि स्तेनकाः यथा ॥ ४८ ॥

पज्जलियं हुयवहं दट्ठुं, निस्संको तत्थ पविसिउं ।
अत्ताणं निद्दहिज्जाहि, नो कुसीलस्स अल्लिए ॥४६॥

जलती हुई अग्नि में निशङ्करूप से प्रविष्ट होकर अपने को भस्म कर देना अच्छा है परन्तु कुत्सित आचार वाले के साथ रहना अच्छा नहीं ॥

पज्जलंति जत्थ धगधगस्स, गुरुणावि चोइए सीसा ।
रागदोसेण वि अणु-सएण तं गोयम ! न गच्छं ॥५०॥

गुरु के समझाने पर, यदि शिष्यगण की क्रोधाग्नि भड़क उठे और अपनी भूल स्वीकार न करे उलटा शिक्षा देने वाले के ही अवगुण निकालना शुरू करदे इस प्रकार समझाने पर जो कलह को बढ़ाता है। और यदि गुरुजन अधिक जोर देकर समझाते हैं तो वह दुःख मानता है और पश्चाताप करने लगता है कि 'मैं ने यों हि दीक्षा ली'। इस प्रकार के जहां शिष्यों के मन में विचार उठते हों, हे गौतम ! वह वास्तव में गच्छ नहीं है।

इस प्रकार क्रुद्ध होकर यदि कोई शिष्य गच्छ से बाहर जा रहा हो उसे उपदेश देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

गच्छो महानुभावो, तत्थ वसंताणं निज्जरा विउला ।
सारणवारणचोअण-माईहिं, न दोसपडिवत्ती ॥ ५१ ॥

प्रज्वलितं हुतवहं दृष्ट्वा, निःशङ्कस्तत्र प्रविश्य ।
आत्मानं निर्दहेत्, न कुशीलमालीयेत् ॥ ४६ ॥
प्रज्वलन्ति यत्र धगधगायमानं, गुरुणापि नोदिताः शिष्याः ।
रागद्वेषाभ्यां व्यनु-शयेन स गौतम ! न गच्छः ॥ ५० ॥
गच्छो महानुभाव—स्तत्र वसतां निर्जरा विपुला ।
स्मारणावारणाचोदना—दिभिर्न दोषप्रतिपत्तिः ॥ ५१ ॥

गच्छ में रहने का बड़ा फल यह है कि गच्छ में अन्य साधुओं के साथ रहने से वह अधिकाधिक निर्जरा कर सकता है और हर समय सारणा वारणा तथा प्रेरणा होते रहने से उस में दोष नहीं आने पाते और गच्छ से बाहिर चले जाने से उस में स्वच्छन्दता आने का भय है और दोषोत्पत्ति की प्रबल सम्भावना है। अतः क्रोधादि के वशीभूत होकर उसे गच्छ से बाहिर नहीं जाना चाहिये ॥

किन २ साधुओं के साथ रहने से एक साधक आत्मा विपुल निर्जरा करता है अब उन का वर्णन करते हैं—

गुरुणो छंदणुवत्ती, सुविणीए जिअपरीसहे धीरे।
न वि थद्धे न वि लुद्धे, न वि गारविए विगहसीले ॥५२॥

जो विनयपूर्वक गुरुजनों की आज्ञा का पालन करता है और जो परीषह आएं उन्हें धैर्य के साथ सहन करता है। अपने को अभिमान में न डुबोते हुए लोभ के जाल में नहीं फंसता है, जो लोलुपता रहित है तथा चार प्रकार की विकथाओं को छोड़ कर तीन गौरवों से पृथक् रहता है ॥

खंते दंते गुत्ते, मुत्ते वेरग्गमग्गमल्लीणे।
दसविहसामायारी, आवस्सगसंजमुज्जुत्ते ॥ ५३ ॥

क्षमा को धारण करके अपनी इन्द्रियों पर जो नियन्त्रण रखता है तथा सदा आत्मगुप्त रहता है अनेक प्रकार के आने वाले

गुरोः छन्दानुवर्तिनः, सुविनीताः जितपरीषहाः धीराः।
नापि स्तब्धाः नापि लुब्धाः, नापि गौरविता विकथाशीलाः ॥५२॥
क्षान्ताः दान्ताः गुप्ताः, मुक्ताः वैराग्यमार्गालीनाः।
दशविधसामाचारी—आवश्यकसंयमोद्यताः ॥ ५३ ॥

प्रलोभनों को छोड़ कर वैराग्यमार्ग पर आरूढ है तथा दश प्रकार की समाचारी का पालन करता है और अपनी आत्मा को प्रातः- एवं सायं आवश्यक क्रिया करते हुए संयमयोग में लगाए रखता है ॥

खरफरुसकक्कसाए, अणिट्ठदुट्ठाइ निट्ठुरगिराए।
निभच्छणनिद्धाडण-माईहिं न जे पउस्संति ॥५४॥
जे अ न अकित्तिजणए, नाजसजणए नाकज्जकारी अ।
न पवयणुड्डाहकरे, कंठग्गयपाणसेसे वि ॥ ५५ ॥

गुरु के कठोर शब्दों में शिक्षा देने पर यहां तक कि कठोर उपालम्भ देते हुए यदि गुरुजन अपने से अलग भी करते हों फिर भी, जो शिष्यगण द्वेषयुक्त नहीं होता हो और प्राणों के कण्ठ में आजाने पर भी अर्थात् —मृत्यु समीप हो तब भी अपनी तथा भगवान् के शासन की निन्दा कराने वाला कोई अकार्य न करता हो ऐसे साधुगण के बीच रहने वाला साधक अधिकाधिक निर्जरा करता है।

गुरुणा कज्जमकज्जे, खरकक्कसदुट्ठनिट्ठुरगिराए ।
भणिए तहत्ति सीसा, भणंति तं गोयमा! गच्छम् ॥५६॥

खरपरुषकर्कशया, अनिष्टदुष्टया निष्ठुरगिरा।
निर्भर्त्सननिर्घाटना—दिभिः न ये प्रद्विषन्ति ॥ ५४ ॥
ये च नाकीर्तिजनकाः, नायशोजनकाः नाकार्यकारिणश्च।
न प्रवचनोड्डाहकराः, कण्ठगतप्राणशेषेऽपि ॥ ५५ ॥
गुरुणा कार्याकार्ये, खरकर्कशदुष्टनिष्ठुरगिरा।
भणिते तथेति शिष्याः, भणन्ति स गौतम! गच्छः ॥ ५६ ॥

"तहत्ति" 'वाऽव्ययोत्खातादावदातः' ॥८।१।६७। इति सूत्रेण 'तहा' शब्दस्य आकारस्य अकारः,'इतेः स्वरात् तश्च द्विः' ॥८।१।४२॥ इति सूत्रेण इतेरिकारस्य लुक्, तकारस्य द्वित्वञ्च। तहत्ति ॥

करने योग्य अथवा न करने योग्य कार्यों के सम्बन्ध में गुरु-जनों के कठोर शब्दों के कहने पर भी जो शिष्यसमुदाय 'तहत्ति' ऐसा कह कर अपने गुरुजनों का आदर सम्मान करता है, हे गौतम ! वास्तव में ऐसे साधुसमुदाय का नाम ही गच्छ है ॥

दूरुज्झियपत्ताइसु ममत्तए निप्पिहे सरीरे वि ।
जायमजायाहारे बयालीसेसणाकुसले ॥ ५७ ॥

वस्त्रपात्रादि की ममता से रहित जो शरीर की आसक्ति से रहित है तथा आहार का अवसर लगने पर अथवा न लगने पर जो आहार के बयालीस दोषों को टालने में समर्थ है ॥

तंपि न रूवरसत्थं, न य वण्णत्थं न चेव दप्पत्थं ।
संजमभरवहणत्थं, अक्खोवंगं व वहणत्थम् ॥ ५८ ॥

ऊपरोक्त शुद्ध एवं निर्दोष आहार भी, रूप तथा रस के लिये नहीं और न हि शरीर की कान्ति बढ़ाने तथा इन्द्रियों को पुष्ट करने के लिये, अपितु गाड़ी की धुरा के उपांग (बांगने) के समान चारित्र के भार को वहन करने के लिये ही ग्रहण करता है ॥

दूरोज्झितपात्रादिषु ममत्वो निःस्पृहः शरीरेऽपि ।
जाताजाताहारे द्विचत्वारिंशद्दोषणाकुशलः ॥ ५७ ॥
तमपि न रूपरसार्थं, न च वर्णार्थं न चैव दर्पार्थम् ।
संयमभारवहनार्थं, अक्षोपाङ्गमिव वहनार्थम् ॥ ५८ ॥

वेअणवेयवच्चे, इरिअट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तिआए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥५९॥

साधु छह कारणों से आहार ग्रहण करता है १. क्षुधावेदनीय को शान्त करने के लिये, २. गुरु, ग्लान, तथा बाल, वृद्ध एवं तपस्वी आदि की सेवा के लिये ३. ईर्यासमिति की शुद्धि के लिये ४. संयम-निर्वाह ५. प्राणधारण ६ स्वाध्याय तथा चिन्तन और मनन के लिये॥

जत्थ य जिट्ठकणिट्ठो, जाणिज्जइ जिट्ठवयणबहुमाणो।
दिवसेण वि जो जिट्ठो, न य हीलिज्जइ स गोअमा! गच्छो

जिस गच्छ में छोटे बड़े का लिहाज है। जो एक दिन भी दीक्षा में बड़ा है वह ज्येष्ठ है, रत्नाकर है। जहां रत्नाकर की हीलना नहीं होती अपितु, उस के वचनों का आदर एवं बहुमान होता है, हे गौतम! वही वास्तव में गच्छ है॥

साधु को साध्वियों से अधिक परिचय न बढ़ाना चाहिये अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

वेदनावैयावृत्ये—र्यार्थं च संयमार्थम्॥
तथा प्राणवृत्त्यर्थम्, षष्ठं पुनो धर्मचिन्तार्थम्॥ ५९॥

"तह" 'वाव्ययोत्खातादावदातः' ॥८।१।६७॥ इति सूत्रेण आतो अत्॥

यत्र च ज्येष्ठकनिष्ठौ, ज्ञायेते ज्येष्ठवचनबहुमानः।
दिवसेनापि यो ज्येष्ठः, न च हील्यते स गौतम! गच्छः॥६०

जत्थ य अज्जाकप्पो, पाणच्चाए वि रोरदुब्भिक्खे ।

न य परिभुज्जइ सहसा, गोयम ! गच्छं तयं भणियम ६१

भयंकर दुष्काल होने पर यदि प्राणत्याग का कष्ट भी क्यों न आन पड़े फिर भी जिस गच्छ के साधु विना विचारे साध्वियों का लाया हुआ आहार पाणी ग्रहण नहीं करते, हे गौतम ! वास्तव में वही गच्छ है ॥

जत्थ य अज्जाहिं सम, थेरा वि न उलवंति गयदसणा ।

न य झायंति थीणं, अंगोवंगाइ तं गच्छम् ॥ ६२ ॥

जिस गच्छ के स्थविर, जिन के दान्त निकल गए हैं, इतने वृद्ध होने पर भी जो साध्वियों से व्यर्थ वार्तालाप नहीं करते और उन के अंगोपांग को सराग दृष्टि से नहीं देखते वही वास्तव में गच्छ है ॥

वज्जेह अपमत्ता !, अज्जासंसग्गि अग्गिविससरिसं ।

अज्जाणुचरो साहू, लहइ अकित्तिं खु अचिरेण ॥ ६३ ॥

हे अप्रमत्त मुनिवरो ! साध्वियों के संसर्ग को अग्नि तथा विष के सदृश समझो । जो इन का संसर्ग करता है वह शीघ्र ही निन्दा का पात्र बनता है ॥

यत्र चार्याकल्पः, प्राणात्ययेऽपि रौद्रदुर्भिक्षे ।
न च परिभुज्यते सहसा, गौतम ! गच्छः सको भणितः ॥६१ ॥
यत्र चार्याभिः समं, स्थविरा अपि नोल्लपन्ति गतदशना ।
न च ध्यायन्ति स्त्रीणा-मङ्गोपाङ्गानि स गच्छः ॥ ६२ ॥
वर्जयत अप्रमत्ताः, आर्यासंसर्गं अग्निविषसदृशं ।
आर्यानुचरः साधुः, लभते अकीर्तिं खलु अचिरेण ॥ ६३ ॥

थेरस्स तवस्सिस्स व, बहुस्सुअस्स व पमाणभूयस्स।
अज्जासंसग्गीए, जणजंपणयं हविज्जाहि ॥ ६४ ॥
किं पुण तरुणो अबहुस्सुओ अ, न य वि हु विगिट्ठतवचरणो
अज्जासंसग्गीए, जणजंपणयं न पाविज्जा ? ॥ ६५ ॥

जो वृद्धावस्था को प्राप्त हो गया है, तथा सदा कुछ न कुछ तप भी करता रहता है और बहुश्रुत है तथा उस के जीवन में प्रमाणिकता है अर्थात् जनता में सर्वमान्य है, यदि वह भी साध्वियों का संसर्ग करता है तो वह लोगों में निन्दा का पात्र बनता है; फिर वह साधु जो अवस्था से युवान हैं आगमरहस्य से रहित है और न ही विकृष्ट (तेला उपरान्त) तप करता है, भला यदि वह साध्वियों का संसर्ग करता है तो क्या उस की निन्दा न होगी ? अर्थात् अवश्य होगी।

जइवि सयं थिरचित्तो, तहवि संसग्गिलद्धपसराए।
अग्गिसमीवे व घयं, विलिज्ज चित्तं खु अज्जाए ॥ ६६ ॥

यदि कोई साधु स्थिरमन वाला है फिर भी जिस प्रकार अग्नि के समीप ही होने पर घृत पिघल जाता है इसी प्रकार आर्यका के संसर्ग से उस के मन में विकृति आने की प्रबल सम्भावना है ॥

स्थविरस्य तपस्विनो वा, बहुश्रुतस्य वा प्रमाणभूतस्य।
आर्यासंसर्ग्या, जनवचनीयता भवेत् ॥ ६४ ॥
किं पुनस्तरुणोऽबहुश्रुतश्च, न चापि हु विकृष्टतपश्चरणः।
आर्यासंसर्ग्या, जनवचनीयतां न प्राप्नुयात् ? ॥ ६५ ॥
यद्यपि स्वयं स्थिरचित्तः, तथापि संसर्गलब्धप्रसरया।
अग्निसमीपे इव घृतं, विलीयते चित्तं खलु आर्यायाः ॥६६॥

सव्वत्थ इत्थिवग्गंमि, अप्पमत्तो सया अवीसत्थो ।
नित्थरइ बंभचेरं, तव्विवरीओ न नित्थरइ ॥ ६७ ॥
सव्वत्थेसु विमुत्तो, साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो ।
सो होइ अणप्पवसो, अज्जाणं अणुचरंतो उ ॥ ६८ ॥
खेलपडिअमप्पाणं, न तरइ जह मच्छिआ विमोएउं ।
अज्जाणुचरो साहू, न तरइ अप्पं विमोएउं ॥ ६९ ॥

स्त्री वर्ग में जो सदा अप्रमत्त होकर रहता है और उन का विश्वास नहीं करता, वह ही पूर्ण शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है अन्यथा नहीं। ऐसा साधक सब पदार्थों से अपनी आसक्ति घटा सकता है और वह निज आत्मा को अपने वश में कर लेता है। इसके विपरीत जो साध्वियों के पाश में बंध जाता है अर्थात् उन के कथनानुसार कार्य करता है तो वह अपनी आत्माकी स्वतन्त्रता को खोकर, परतन्त्र बन जाता है। जिस प्रकार श्लेष्म में पड़ी मक्षिका अपने आप को नहीं छुड़ा सकती इसी प्रकार साध्वी अर्थात् स्त्री के बन्धन में फंसा हुआ साधु संसार समुद्र से पार नहीं हो सकता।

सर्वत्र स्त्रीवर्गे, अप्रमत्तः सदा अविश्वस्तः ।
निस्तरति ब्रह्मचर्यं, तद्विपरीतो न निस्तरति ॥६७॥
सर्वार्थेषु विमुक्तः, साधुः सर्वत्र भवति आत्मवशः ।
स भवति अनात्मवशः, आर्याणामनुचरन् तु ॥६८॥
श्लेष्मपतितमात्मानं, न शक्नोति यथा मक्षिका विमोचयितुम् ।
आर्यानुचरः साधुः, न शक्नोति आत्मानं विमोचयितुम् ॥६९॥

"तरइ" 'शकेश्चय-तर-तीर-पाराः' ॥८।४।८६॥ इति सूत्रेण शक्धातोस्तरादेशः ॥

साहुस्स नत्थि लोए, अज्जासरिसी हु बंधणे उवमा ।
धम्मेण सह ठवंतो, न य सरिसो जाण असिलेसो ॥७०॥

साधु के लिये इस संसार में साध्वी के सदृश और कोई बंधन नहीं और धर्म से पतित होती हुई किसी साधक आत्मा को पुनः धर्म में स्थापन करने जैसी निर्जरा नहीं।

वायामित्तए वि जत्थ, भट्टचरित्तस्स निग्गहं विहिणा ।
बहुलद्धिजुअस्सावि, कीरइ गुरुणा तयं गच्छम् ॥७१॥

जो वचनमात्र से चारित्रभ्रष्ट हो गया है भले ही वह बहुलब्धियुक्त है, जहां उस का भी विधिपूर्वक निग्रह किया जाता है अर्थात् उसे प्रायश्चित दिया जाता है, वह सदाचारी गच्छ है ॥

जत्थ य संनिहिउक्खड–आहडमाईण नामगहणे वि ।
पूईकम्मा भीआ, आउत्ता कप्पतिप्पेसु ॥ ७२ ॥
मउए निहुअसहावे, हासदवविवज्जिए विगहमुक्के ।
असमंजसमकरंते, गोअरभूमट्ठ विहरंति ॥ ७३ ॥

साधोर्नास्ति लोके, आर्यासदृशी हु बन्धने उपमा ।
धर्मेण सह स्थापयन्, न च सदृशो जानीयात् अश्लेशः ॥७०॥
वाङ्मात्रेणापि यत्र, भ्रष्टचारित्रस्य निग्रहं विधिना ।
बहुलब्धियुक्तस्यापि, क्रियते गुरुणा सको गच्छः ॥७१॥
यत्र च सनिधि-उपस्कृत—आहृतादीनां नामग्रहणेऽपि ।
पूतिकर्मणो भीताः, आयुक्ताः कल्पत्रेपेषु ॥ ७२ ॥
मृदुकाः निभृतस्वभावाः, हास्यद्रवविवर्जिता विग्रहमुक्ताः ।
असमञ्जसमकुर्वन्तः, गोचरभूम्यर्थं विहरन्ति ॥ ७३ ॥

मुणिणं नाणाभिग्गह,-दुक्करपच्छित्तमणुचरंताणं ।
जायइ चित्तचमक्कं, देविंदाणं वि तं गच्छम् ॥ ७४ ॥

जिस गच्छ के साधु रात्रि में अशन आदि रखना संनिधि दोष के तथा औद्देशिक और अभ्याहृत आदि दोषों के नाममात्र से अर्थात् स्पर्शमात्र से भय खाते हों, आहार निहार की क्रियाओं में उपयोगवान हो, विनयवान, निश्चल स्वभाव वाले, हंसी-मश्करी के न करने वाले, उतावलेपन से रहित, चारों विकथाओं से दूर रहने वाले, विना विचारे कोई कार्य न करने वाले तथा गोचरी के लिये योग्य भूमि में ही परिभ्रमण करने वाले हों। तथा नाना प्रकार के अभिग्रह एवं दुष्कर प्रायश्चितके अनुष्ठानों को करते हुए साधुओं को देख कर देवों के स्वामी इन्द्र भी जहां चकित रह जाएं, वास्तव में गच्छ तो वही है।

पुढविदगअगणिमारुअ--वणस्सइतसाण विविहाणं ।
मरणंतेवि न पीडा, कीरइ मणमा तयं गच्छम् ॥७५॥

प्रथ्वी काय अप् काय, तेउ काय वायु तथा वनस्पति काय एवं बेइन्द्रिय आदि त्रस काय के जीवों को, स्वयं की मृत्यु सामने होने पर भी जहां मन के द्वारा भी पीड़ा न पहुँचाई जाती हो अर्थात सब जीवों को अपनी आत्मा के समान समझा जाता हो, वह वस्तुतः गच्छ है ॥

मुनीन् नानाभिग्रह—दुष्करप्रायश्चितमनुचरतः (दृष्ट्वा) ।
जायते चित्तचमत्कारो, देवेन्द्राणामपि स गच्छः ॥ ७४ ॥
पृथिवीदकाग्निमारुत—वनस्पतित्रसानां विविधानाम् ।
मरणान्तेऽपि न पीडा, क्रियते मनसा सको गच्छः ॥७५॥

खज्जूरिपत्तमुंजेण, जो पमज्जे उवस्सयम् ।
नो दया तस्स जीवेसु, सम्मं जाणाहि गोश्रमा ! ॥७६॥

जो साधु खजूर के पत्तों अथवा मुंज की बनी हुई बुहारी से उपाश्रय की प्रमार्जना करता है तो हे गौतम ! उस साधु के दिल में दया का अभाव है ॥

जत्थ य बाहिरपाणिश्र-बिंदूमित्तंपि गिम्हमाईसु ।
तगहासोसिश्रपाणा, मरणे वि मणी न गिरहंति ॥७७॥

ग्रीष्मादिक ऋतु में प्यास के मारे कण्ठ सूखा जारहा हो,प्राण निकले चाहते हों, मृत्यु सामने नृत्य कर रही हो ऐसी अवस्था में भी जो साधु कूप, तडाग, बावड़ी आदि के सचित्त जल की बिन्दुमात्र भी न ग्रहण करता हो ऐसे दृढप्रतिज्ञ साधुओं से युक्त गच्छ ही वास्तव में गच्छ है ॥

इच्छिज्जइ जत्थ सया, बीयपएणावि फासुयं उदयम् ।
आगमविहिणा निउणं, गोश्रम ! गच्छं तयं भणियम् ॥७८॥

जिस गच्छ के साधु अपवाद मार्ग में भी अच्छी तरह

खजूरपत्रेन मुञ्जेन, यः प्रमार्जयति उपाश्रयम् ।
न दया तस्य जीवेषु, सम्यग् जानीहि गौतम ! ॥ ७६ ॥

यत्र च बाह्यपानीय—बिन्दुमात्रमपि ग्रीष्मादिषु ।
तृष्णाशोषितप्राणा, मरणेऽपि मुनयो न गृह्णन्ति ॥ ७७ ॥

इष्यते यत्र सदा, द्वितीयपदेनापि प्रासुकमुदकम् ।
आगमविधिना निपुणं, गौतम ! गच्छः सको भणितः ॥७८॥

ऊहापोह के पश्चात् सदा शास्त्रानुसार ही प्रासुक जल ग्रहण करने की इच्छा करते हैं, हे गौतम ! वह वास्तविक गच्छ है ॥

जत्थ य सूलविसूइय, अन्नयरे वा विचित्तमायंके ।
उप्पण्णे जलणुज्जालणाइ, कीरइ न मुणि ! तयं गच्छम्॥७६॥

शूल, विशूचिका तथा अन्य कोई सद्यप्राणघातक व्याधि के उत्पन्न हो जाने पर भी जहां अग्निकाय का आरम्भ नहीं किया जाता, हे गौतममुने ! वह वास्तव में गच्छ है ॥

बीयपएणं सारूविगाइ-सड्ढाइमाइएहिं च ।
कारिंती जयणाए, गोयम ! गच्छं तयं भणियम ॥ ८०॥

अपवादरूप में जहां कोई अवश्यक प्रसंग आजाए उस समय भी जिस गच्छ के साधु यत्नापूर्वक अग्नि का आरम्भ साधुवेषधारी सारूपिक से, इस के अभाव में सिद्धपुत्र से इस के अभाव में चारित्रयुक्त पश्चात्कृत से, इस के न मिलने पर व्रतधारी श्रावक से तथा इस के भी न मिलने पर भद्रिकपरिणामी अन्य दर्शनीय गृहस्थ से ही करावे । हे गौतम ! वह सही अर्थों में गच्छ कहलाता है ॥

यत्र च शूले विशूचिकायां, अन्यतरस्मिन् वा विचित्रातङ्के ।
उत्पन्ने ज्वलनोज्ज्वालनादि, क्रियते न मुने ! सको गच्छः ॥७६॥

द्वितीयपदेन सारूपिकादि—श्राद्धादिआदिभिश्च ।
कारयन्ति यतनया, गौतम ! गच्छः सको भणितः ॥ ८० ॥

पुप्फाणं बीयाणं, तयमाईणं च विविहदव्वाणं ।
संघट्टणपरिआवण, जत्थ न कुज्जा तयं गच्छम् ॥८१॥

पुष्प, बीज तथा वृक्ष आदि के मूल, पत्र, अंकुर, फल और छाल आदि का संघट्टा तथा परिताप जिस गच्छ के मुनि न करते हों वह वास्तविक गच्छ है ॥

हासं खेडडा कंदप्प, नाहियवायं न कीरए जत्थ ।
धावणडेवणलंघण, ममकारावणणउच्चरणम ॥ ८२ ॥

जिस गच्छ में हांसी मखोल, बालक्रीड़ा कामकथादिक कुचेष्टा न की जाती हों, तथा नास्तिकवाद के वचन न बोले जाते हों और विना प्रयोजन इधर उधर शीघ्रतया गमानागमन करना, वेग से किसी खाई आदि को पार करना एवं उछल कर किसी चीज को पार करना, वस्त्र पात्र आदि पर ममत्व भाव रखना तथा पूजनीय गुरुजनों का अवर्णवाद बोलना ये सब जिस गच्छ में न हों वही वस्तुतः गच्छ है ॥

जत्थित्थीकरफरिसं, अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने ।
दिट्ठिविसदित्तग्गी, विसं व वज्जिज्जए गच्छे ॥८३॥

पुष्पानां बीजानां, त्वगादीनाञ्च विविधद्रव्याणाम् ।
सङ्घट्टनपरितापनं, यत्र न कुर्यात् सको गच्छः ॥ ८१ ॥
हास्यं क्रीडा कन्दर्पो, नास्तिकवादो न क्रियते यत्र ।
धावनं डेपनलङ्घनं, ममकारोऽवर्णोच्चारणम् ॥ ८२ ॥

यत्र स्त्रीकरस्पर्शं, अन्तरिते कारणेऽपि उत्पन्ने ।
दृष्टिविषदिप्ताग्नि—विषमिव वर्जयेत् (स) गच्छः ॥८३॥

बालाए बुड्ढाए, नत्तुअदुहियाइ अहव भइणीए ।
न य करीइ तणुफरिसं, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥८४॥

जिस गच्छ में, विशेष कारण उत्पन्न होने पर भी स्त्री के हाथ के स्पर्श को दृष्टिविष सर्प, प्रज्ज्वलिताग्नि एवं हालाहल विष समझा जाता है वह सही गच्छ है तथा बालकुमारी एवं वृद्धा, पुत्री, पौत्री एवं बहिन से भी जहां स्पर्श नहीं किया जाता, वह गच्छ है ॥

जत्थित्थीकरफरिसं, लिंगी अरिहो वी सयमवि करिज्जा ।
तं निच्छयओ गोयम ! जाणिज्जा मूलगुणे भट्ठम् ॥८५॥
कीरइ बीअपएणं, सुत्तमभणिअं नजत्थ विहिणा उ ।
उप्पन्ने पुण कज्जे, दिक्खाआयंकमाईए ॥ ८६ ॥

साधुवेष युक्त यदि कोई एक पूज्य आचार्य भी स्वयं स्त्री के हाथ का स्पर्श करे, तो हे गौतम ! निश्चय ही वह मूलगुणों से भ्रष्ट है । और जिस गच्छ में अपवाद रूप से भी स्त्री के हाथ आदि का स्पर्श नहीं किया जाता क्योंकि शास्त्र में अपवाद अवस्था में भी स्त्रीस्पर्श वर्जनीय है कारण कि चतुर्थ महाव्रत का अपवाद

बालाया वृद्धाया, नप्तृकाया दुहितृकाया अथवा भगिन्याः ।
न च क्रियते तनुस्पर्श , गौतम ! गच्छः सको भणितः ॥८४॥
यत्र स्त्रीकरस्पर्शं, लिङ्गी अर्होऽपि स्वयंमपि (स्वयमेव) कुर्यात् ।
तं निश्चयतः गौतम !, जानीयात् मूलगुणभ्रष्टम् ॥ ८५ ॥
क्रियते द्वितीयपदेन, सूत्राभणितं न यत्र विधिना तु ।
उत्पन्ने पुनः कार्ये, दीक्षाऽऽतङ्कादिके ॥ ८६ ॥

जिनशासन में नहीं है फिर भी दीक्षा पर्याय के नाश होने का अवसर अथवा आतङ्क आदि उत्कृष्ट कारण आ पड़ने पर जैसे कि श्री वृहत्कल्पसूत्र के छट्ठे उद्देश्य में वर्णन आया है इस प्रकार के किसी बहुत बड़े कारण के उपस्थित होने पर, जो गीतार्थ मुनि आगम के रहस्य को समझने वाले हों परमार्थदर्शी हों वेह। आगमविधि अनुसार जहां ऐसा करते हों वह गच्छ ही वास्तव में गच्छ है ।।

मूलगुणेहिं विमुक्कं, बहुगुणकलियं पि लद्धिसंपन्नम् ।
उत्तमकुले वि जायं, निद्धाडिज्जइ तयं गच्छम् ।।८७।।

अनेकगुणों से युक्त तथा लब्धिसम्पन्न चाहे किसी उत्तमकुल में उत्पन्न हुआ ही क्यों न हो उस के मूलगुणों से भ्रष्ट हो जाने पर यदि वह गच्छ से बाहर कर दिया जाता है तो वह गच्छ वास्तविक गच्छ है ।।

जत्थ हिरण्णसुवण्णे, धणधण्णे कंसतंबफलिहाणं ।
सयणाण आसणाण य, झुसिराणं चेव परिभोगो ।।८८।।
जत्थ य वारडियाणं, तत्तडिआणं च तह य परिभोगो ।
मुत्तुं सुक्किलवत्थं, का मेरा तत्थ गच्छम्मि ? ।।८९ ।।

मूलगुणैर्मुक्तं, बहुगुणकलितमपि लब्धिसम्पन्नम् ।
उत्तमकुलेऽपि जातं, निर्घाटयति सको गच्छः ।। ८७ ।।
यत्र हिरण्यसुवर्णयोः, धनधान्ययोः कांस्यताम्रस्फटिकानाम् ।
शयनानामासनानाञ्च, शुषिराणाञ्चैव परिभोगः ।। ८८ ।।
यत्र च रक्तवस्त्राणां, नीलपीतादिरञ्जितवस्त्राणां चैव परिभोगः ।
मुक्त्वा शुक्लवस्त्रं, का मर्यादा तत्र गच्छे ? ।। ८९ ।।

जिस गच्छ के मुनिगण, सोना चान्दी, धन धान्य तथा कांसी ताम्बा एवं स्फटिकरत्नमय भाजन और कुर्सी पलंग चारपाई तथा छिद्रों वाली चौकी एवं फट्टे का परिभोग करते हों और श्वेतवर्ण के वस्त्रों को छोड़ कर लाल नीले पीले वस्त्र पहनते हों तो उस गच्छ की क्या मर्यादा रह जाती है ? अर्थात् वह गच्छ मर्यादाहीन है ॥

जत्थ हिरएणसुवएणं, हत्थेण परागयंपि नो छिप्पे ।
कारणसमप्पियं पि हु, निमिसखणद्धं पि तं गच्छम् ॥६०॥

कोई गृहस्थ किसी भय के कारण अथवा स्नेह के वशीभूत होकर साधु को अपना सोना चान्दी समर्पण करे जिस गच्छ के साधु उस सोने चांदी को, पर का ही समझ कर अर्धनिमेषमात्र अर्थात् क्षणभर के लिये भी उसे हाथ से स्पर्श तक नहीं करते वह वास्तविक गच्छ है ॥

जत्थ य अज्जालद्धं, पडिगहमाईवि विविहमुवगरणम् ।
परिभुज्जइ साहूहिं, तं गोयम ! केरिसं गच्छम् ? ॥६१॥

जहां पात्र आदि उपकरण विना कारणविशेष, आर्यकाओं से लेकर साधु अपने उपभोग में लाते हैं, हे गौतम ! वह कैसा विचित्र गच्छ है ? अर्थात् वह वास्तविक गच्छ नहीं है ॥

यत्र हिरण्यसुवर्णं, हस्तेन परकीयमपि न स्पृशेत् ।
कारणसमर्पितेऽपि हु, निमेषक्षणार्द्धमपि स गच्छः ॥ ६० ॥

यत्र चार्यालब्धं, पतद्ग्रहाद्यपि विविधमुपकरणम् ।
परिभुज्यते साधुभिः, स गौतम ! कीदृशो गच्छः ? ॥६१॥

अइदुल्लहभेसज्जं, बलबुद्धिविवड्ढणंपि पुट्ठिकरम् ।
अज्जालद्धं भुज्जइ, का मेरा तत्थ गच्छम्मि ? ।६२।।

शारीरिक बल, तथा बुद्धि बल को बढ़ाने वाली एवं पुष्ट करने वाली अति दुर्लभ औषध, यदि आर्यकाओं से प्राप्त करके सेवन की जाती है तो उस गच्छ की क्या मर्यादा है ? अर्थात् वह गच्छ अपनी मर्यादाओं का उल्लङ्घन कर रहा है । और गच्छ के वास्तविक गुणां से दूर होता जा रहा है ॥

एगो एगित्थिए सद्धिं, जत्थ चिट्ठिज्ज गोयमा ! ।
संजइए विसेसेणं, निम्मेरं तं तु भासिमो ॥ ६३ ॥

जहां अकेला साधु अकेली स्त्री से और विशेषकर अकेली आर्यका से बातचीत करता है तो हे गौतम ! वह गच्छ अपनी मर्यादा से बाहर समझना चाहिये ॥

उपरोक्त गाथा में अकेली आर्यका से संलापमात्र का सर्वथा निषेध किया है इसी विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिये ग्रन्थकार कहते है—

अतिदुर्लभभैषज्यं, बलबुद्धिविवर्धनमपि पुष्टिकरम् ।
आर्यालब्धं भुज्यते, का मर्यादा तत्र गच्छे ॥ ६२ ॥
एक एकस्त्रिया सार्द्धं, यत्र तिष्ठेत् गौतम ! ।
संयत्या विशेषेण, निर्मर्यादं तं तु भाषामहे ।। ६३ ॥

दढचारित्तं मुत्तं, आइज्जं मय(इ)हरं च गुणरासिं
इक्को अज्झावेई, तमणायारं न त गच्छम् ॥ ६४ ॥

जो चारित्र में दृढ, निर्लोभात्मा, आदेय वचन वाली अर्थात जो जनता में आदर प्राप्त है,ऐसी महामति वाली गुणों की खान जो सर्व साध्वियों की स्वामिनी है, उस को एकाकी साधु पढ़ाता है तो वह पढ़ाने वाला साधु और पढ़ने वाली आर्यका दोनों अनाचार का सेवन करते हैं ॥

घणगज्जियहयकुहए-विज्जूदुग्गिज्जगूढहियियाओ ।
अज्जा अवारियाओ, इत्थीरज्जं न तं गच्छम् ॥ ६५ ॥

बादल के गर्जने, घोड़े के पेट की वायु एवं बिजली के चमकारे का जैसे पता नहीं चलता इसी प्रकार कूट कपटयुक्त हृदय वाली आर्यका जहां स्वच्छन्दाचारिणी हो और अपनी मनमानी करती हो,—उसे उलटे मार्ग से कोई रोकने वाला न हो, तो समझना चाहिये कि वहां स्त्रीराज्य है, वस्तुतः वह गच्छ नहीं है ॥

टिप्पणी—यहां कपट तथा स्वच्छन्दता की अपेक्षा से स्त्रीराज्य नाम दिया गया है । इसी प्रकार जहां साधु स्वच्छन्दाचारी हों

दृढचारित्रां मुक्तां, आदेयां महत्तरां (मतिगृहं) च गुणराशिम् ।
एकाकी अध्यापयति, सोऽनाचारः न स गच्छः ॥ ६४ ॥

"**मइहरं**" '**गृहस्य घरोपतौ**:' ॥८।२।१४४॥ इति सूत्रेण गृहस्य घरादेशः, '**ख-घ-थ-भाम्**' ॥८।१।१८७॥ इति सूत्रेण घस्यः ह ॥

घनगर्जितहयकुहक—विद्युद्दुर्ग्राह्यगूढहृदयाः ।
आर्या अवारिताः, स्त्रीराज्यं न स गच्छः ॥ ६५ ॥

अपने दुष्ट स्वभावानुसार आचरण करते हुए किसी के रोकने पर भी न रुकते हों तो उसे स्त्रीराज्य के समान दुष्टराज्य नाम भी दिया जा सकता है ॥

जत्थ समुद्देसकाले, साहूणं मंडलीइ अज्जाओ।
गोयम! ठवंती पाए, इत्थारज्जं न तं गच्छम् ॥ ९६ ॥

भोजन के समय साधुओं की मण्डली में यदी कोई साध्वी वहां अपना कदम रखती है तो हे गौतम! वह वास्तविक गच्छ नहीं, अपितु उसे स्त्री राज्य अर्थात् दुष्ट राज्य समझना चाहिये ॥

जत्थ मुणीण कसाया, जगडिज्जंता वि परकसाएहिं।
नेच्छंति समुट्ठेउं, सुनिविट्ठो पंगुलो चेव ॥ ९७ ॥

जैसे कोई हाथ पांव से लाचार पङ्गु बैठा रहता है ऐसे ही दूसरों के क्रोधद्वारा अपना उठता हुआ क्रोध पङ्गु के सदृश नहीं उठ पाता अर्थात् दूसरों के क्रोध करने पर जो क्रोध नहीं करता ऐसे मुनियों से युक्त गच्छ ही वास्तव में गच्छ है ॥

धम्मंतरायभीए, भीए संसारगब्भवसहीणं।
न उदीरन्ति कसाए, मुणी मुणीणं तयं गच्छम् ॥ ९८ ॥

यत्र समुद्देशकाले, साधूनां मण्डल्यां आर्याः।
गौतम! स्थापयन्ति पादौ, स्त्रीराज्यं न स गच्छः ॥ ९६ ॥
यत्र मुनीनां कषायाः, उदीर्यमाणा अपि परकषायैः।
नेच्छन्ति समुत्थातुं, सुनिविष्टः पङ्गुलः चैव ॥ ९७ ॥
धर्मान्तरायभीताः, भीता संसारगर्भवसतिभ्यः।
नोदीरयन्ति कषायान्, मनयो मुनीनां सको गच्छः ॥ ९८ ॥

सर्वज्ञकथित भगवान के धर्म में विघ्न न पड़े इस से डरते हुए तथा संसारभ्रमण अर्थात् जन्ममरण के भय के कारण जिस गच्छ के साधु दूसरों के क्रोध को नहीं जगाते, सदा सद्व्यवहार से पेश आते हैं, ऐसे साधुओं के समुदाय का नाम गच्छ है।

कारणमकारणेणं अह, कहवि मुणीण उट्ठहिं कसाए।
उदए वि जत्थ रुंभहि, खामिज्जइ जत्थ तं गच्छम् ॥९९॥

गुरु अथवा ग्लान आदि की वैयावच्च आदि के मुख्य कारण अथवा किसी अन्य गौण कारण से यदि कषाय उदय में आते हों तो उन्हें मुनि रोकते हैं अर्थात् उदय में नहीं आने देते यदि इस प्रकार का प्रयत्न करने पर भी कषाय उदय में आ ही जाएं तो तुरन्त उसकी क्षमायाचना करते हैं। हे गौतम! ऐसे मुनियों के समुदाय का नाम ही गच्छ है ॥

सीलतवदाणभावण, चउविहधम्मंतरायभयभीए।
जत्थ बहू गीअत्थे, गोअम! गच्छं तयं भणिअम् ॥१००॥

दान, शील तप और भावनारूप चार प्रकार के धर्म में किसी प्रकार की अन्तराय-विघ्न बाधा न पड़े, इस बात का सदैव ध्यान में रखने वाले जिस गच्छ में बहुत से गीतार्थ मुनि हों, हे गौतम! उसी को वास्तव में गच्छ कहना चाहिये ॥

कारणेनाकारणेन अथ, कथमपि मुनीनामुत्थिताः कषायाः।
उदयेऽपि यत्र रुन्धन्ति, क्षमयन्ति यत्र स गच्छः ॥ ९९ ॥

"कहवि" मांसादेर्वा' ।८।१।२९ इति सूत्रेण अनुस्वारस्य लुक्, पदादपेर्वा, ॥८।१।४१। इति सूत्रेण अपेरकारस्य लुक् ॥

शीलतपदानभावना - चतुर्विधधर्मान्तरायभयभीताः।
यत्र बहवो गीतार्थाः, गौतम! गच्छः सको भणितः ॥१००॥

जत्थ य गोयमा ! पंचण्ह, कहवि सूणाण इक्कमपि हुज्जा।
तं गच्छं तिविहेणं, वोसिरिअ वइज्ज अन्नत्थ ॥ १०१ ॥

हे गौतम ! जिस गच्छ के मुनि आहार शरीर एवं उपधि आदि में आसक्त होकर गृहस्थोचित चक्की, चुल्हा, प्रमार्जनी, ऊखल तथा जलकुम्भ आदि में से एक का भी आरम्भ समारम्भ करते हैं, तो उस गच्छ में काया से तो क्या, मन से भी रहने का सङ्कल्प न करे, तीन करण तीन योग से उस गच्छ को छोड़ कर किसी और सद्गुणी गच्छ में चला जावे ॥

सूणारंभपवत्तं, गच्छं वेसुज्जलं न सेविज्जा।
जं चरित्तगुणेहिं, तु उज्जलं तं तु सेविज्जा ॥ १०२ ॥

जिस गच्छ के साधु आरम्भप्रवृत्ति में लगे हुऐ हैं और वगुले समान श्वेतवस्त्रधारी केवल ऊपर से उज्ज्वल बन कर रहते हैं किन्तु अपने चारित्र के गुणों से जिन की आत्मा उज्ज्वल नहीं हो पाई है, अपितु काली ही है तो उन के साथ नहीं रहना चाहिये। तथा जिन की आत्मा साधना पथ पर आरूढ है और जिन में आत्मिक उज्ज्वलता वेग से नहीं, तो धीरे धीरे ही आरही है उन के सहवास में रहना उचित है ॥

यत्र च गौतम ! पञ्चानां, कथमपि सूनानामेकमपि भवेत्।
तं गच्छं त्रिविधेन, व्युत्सृज्य व्रजेत् अन्यत्र ॥ १०१ ॥

सूनारम्भप्रवृत्तं, गच्छं वेषोज्ज्वलं न सेवेत।
यश्चारित्रगुणैः, तूज्ज्वलस्तं तु सेवेत् ॥ १०२ ॥

जत्थ य मुणिणो, कयविक्कयाइं कुव्वंति संजमुब्भट्ठा।
तं गच्छं गुणसायर ! विसं व दूरं परिहरिज्जा ॥१०३॥

जिस गच्छ के मुनिगण वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि के क्रय-विक्रय में फंस कर सयम मे भ्रष्ट हो चुके हैं। हे गुणों के सागर गौतम ! उस गच्छ को विष समान समझ कर दूर से ही छोड़ देना चाहिये ॥

आरंभेसु पसत्ता, सिद्धंतपरंमुहा विसयगिद्धा।
मुत्तुं मुणिणो गोयम !, वसिज्ज मज्झे सुविहियाणम् ॥१०४

जो साधु आरम्भ समारम्भ के कार्यों में आसक्त हैं और वे उन को छोड़ने के लिये तय्यार नहीं हैं। सिद्धान्त से विपरीत मार्ग पर जा रहे हों और काम भोगों में गृद्धित हों, हे गौतम ! ऐसे दुष्ट स्वभाव वाले साधुओं को छोड़ कर सुविहित आत्मा=आत्मार्थी साधुओं के समुदाय में रहना चाहिये ॥

तम्हा सम्मं निहालेउं, गच्छं सम्मग्गपट्ठियम्।
वसिज्ज पक्खमासं वा, जावज्जीवं तु गोयमा !॥१०५॥

इस लिये हे गौतम ! जो गच्छ सन्मार्ग पर प्रतिष्ठित है, ऐसे

यत्र च मुनयः, क्रयविक्रयादि कुर्वन्ति संयमोद्भ्रष्टाः।
तं गच्छं गुणसागर ! विषमिव दूरतः परिहरेत्॥ १०३॥
आरम्भेषु प्रसक्तान्, सिद्धान्तपराङ्मुखान् विषयगृद्धान्।
मुक्त्वा मुनीन् गौतम !, वसेत् मध्ये सुविहितानाम्। ॥१०४॥
तस्मात् सम्यक् निभाल्य, गच्छं सन्मार्गप्रस्थितम्।
वसेत् पक्षं मासं वा, यावज्जीवं तु गौतम ! ॥ १०५॥

गच्छ को भली प्रकार देख भाल कर उसी में एक पक्ष के लिये या मास के लिये अथवा सम्पूर्ण जीवन भर रहना चाहिये ॥

खुड्डो वा अहवा सेहो, जत्थ रक्खे उवस्सयम।

तरुणो वा जत्थ एगागी, का मेरा तत्थ भासिमो ॥१०६॥

जहां छोटी आयुवाला अथवा नवदीक्षित अथवा युवावस्था वाला साधु उपाश्रय का एकाधिकारी बना हुआ हो अर्थात् उस उपाश्रय में जितने साधु रहते हैं जिन में कि स्थविर भी हैं उन सब पर अपना आदेश चलाता हो और उन के कहने की कुछ भी परवाह न करके मनमाने कार्य करता हो तो उस गच्छ में मर्यादाओं का पालन कहां हो सकता है ? अर्थात् वह गच्छ अपनी मर्यादाओं का उल्लङ्घन करने वाला है ॥

यहां साधुस्वरूपनिरूपण नाम का दूसरा अधिकार समाप्त होता है और साध्वीस्वरूपनिरूपण नामक तीसरा अधिकार आरम्भ होता है—

जत्थ य एगा खुड्डी, एगा तरुणी उ रक्खए वसहिं।

गोयम ! तत्थ विहारे, का सुद्धी बंभचेरस्स ? ॥१०७॥

इसी प्रकार छोटी उमर वाली अथवा अल्प दीक्षा वाली तथा युवा अवस्था वाली साध्वी उपाश्रय में अकेली रहती हो तो वहां

क्षुल्लको वाथवा शैक्षो, यत्र रक्षेत् उपाश्रयम्।
तरुणो वा यत्र एकाकी, का मर्यादा तत्र भाषामहे ? ॥१०६॥
यत्र चैका क्षुल्लिका, एका तरुणी तु रक्षति वसतिं।
गौतम ! तत्र विहारे, का शुद्धिर्ब्रह्मचर्यस्य ? ॥ १०७ ॥

ब्रह्मचर्य की निर्मलता कैसे टिक सकती है ? अर्थात् नहीं टिक सकती।

जत्थ य उवस्सयाओ, बाहिं गच्छे दुहत्थमित्तंपि ।
एगा रत्तिं समणी, का मेरा तत्थ गच्छस्स ॥१०८॥

जिस गच्छ के रहने वाली साध्वी रात्रि के समय मात्रा आदि के कारण उपाश्रय के बाहर दो कदम भी अकेली जाती है, तो उस गच्छ में क्या मर्यादा रही ? अर्थात् वह गच्छ मर्यादाविहीन है ॥

जत्थ य एगा समणी, एगो समणो य जंपए सोम्म ! ।
निअबंधुणावि सद्धिं, तं गच्छं गच्छगुणहीणं ॥ १०९ ॥

हे सौम्य गौतम ! जिस गच्छ में अकेली साध्वी अपना सगा भाई, जो कि साधु बना हुआ है उस से और इसी प्रकार अकेला साधु अपनी बहिन जो कि साध्वी बनी हुई है उस से वार्तालाप करता है तो वह गच्छ, गच्छ के गुणों से रहित है ॥

यत्र चोपाश्रयात्, बहिर्गच्छेत् द्विहस्तमात्रमपि।
एकाकिनी रात्रौ श्रमणी, का मर्यादा तत्र गच्छे ॥ १०८ ॥

"रत्तिं" 'सप्तम्या द्वितीया' ॥८।३।१३७॥ इति सूत्रेण सप्तम्याः स्थाने द्वितीया ॥

यत्र चैका श्रमणी, एकः श्रमणश्च जल्पते सौम्य ! ।
निजबन्धुनाऽपि सार्द्धं, स गच्छः गच्छगुणहीनः ॥ १०९ ॥

जत्थ जयारमयारं, समणी जंपइ गिहत्थपच्चक्खम् ।
पच्चक्ख संसारे, अज्जा पक्खिवइ अप्पाणं ॥११०॥

जो साध्वियें परस्पर में गृहस्थों के समक्ष जकार मकार आदि असभ्य वचनों का प्रयोग करती हैं तो वह चतुर्गति संसार समुद्र में अपनी आत्मा को अवश्य गिरा देती हैं ॥

जत्थ य गिहत्थभासाहिं, भासए अज्जिआ सुरुट्ठावि ॥
तं गच्छं गुणसायर!, समणगुणविवज्जिअं जाण ॥१११॥

जिस गच्छ की आर्यकाएं अत्यन्त क्रोधावेश में आकर गृहस्थों के सदृश सावद्य भाषा बोलें, क्लेश करे, हे गुणों के सागर गौतम! वह गच्छ साधुता के गुणों से रहित समझना चाहिये ॥

गणिगोअम! जा उचिअं, सेअवत्थं विवज्जिउं ।
सेवए चित्तरूवाणि, न सा अज्जा विआहिया ॥११२॥

हे गौतम! साध्वी योग्य प्रमाणोपेत उचित जो श्वेत वस्त्र होते हैं, उन को छोड़ कर नाना प्रकार के रंगदार वस्त्र जो आर्यकाएं पहनतीं हैं, वे जिन शासन में आर्यकाएं नहीं कही जा सकतीं ॥

यत्र जकारमकारं, श्रमणी जल्पते गृहस्थप्रत्यक्षम् ।
प्रत्यक्षं संसारे, आर्या प्रक्षिपति आत्मानम् ॥ ११० ॥
यत्र च गृहस्थभाषाभिः, भाषते आर्यका सुरुष्टाऽपि ।
तं गच्छं गुणसागर!, श्रमणगुणविवर्जितं जानीयात् ॥१११॥
गणिगौतम! या उचितं, श्वेतवस्त्रं विवर्ज्य ।
सेवते चित्ररूपाणि, न सा आर्या व्याहृता ॥ ११२ ॥

सीवणं तुन्नणं भरणं. गिहत्थाणं तु जा करे।
तिलउव्वट्टणं वा वि, अप्पणो अ परस्स य ॥११३॥

जो साध्वी अपने पीछे लगी हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये अथवा गृहस्थों से स्नेह होने के कारण उन के कपड़ों को सीती है फटे हुए कपड़ों को ठीक करती है रजाई आदि में रुई भरती है (अथवा अन्य कोई भरने का काम करती है) अपने शरीर पर अथवा अपने स्नेही गृहस्थों के बालकों के शरीर पर तैलमर्दन करती है तो उसे आर्यका न समझना चाहिये॥

गच्छइ सविलासगइ, सयणीयं तूलिअं सबिब्बोअं।
उव्वट्टेइ सरीरं, सिणाणमाईणि जा कुणइ ॥११४॥

जो साध्वी विलासयुक्त गति से इधर उधर भ्रमण करती है, रुई आदि से भरी हुई तलैया पर नरम तथा मुलायम सिराहने के साथ शयन करती है, तैल आदि का मर्दन करके जो स्नान आदि से अपने शरीर की सजावट में लगी हुई है॥

गेहेसु गिहत्थाणं, गंतूण कहो कहेइ काहीआ।
तरुणाइ अहिवडंते अणुजाणे सा इ पडिणीआ ॥११५॥

सीवनं तुन्नणं भरणं, गृहस्थानां तु या करोति।
तैलोद्वर्तनं वाऽपि, आत्मनः परस्य च ॥ ११३ ॥
गच्छति सविलासगतिः, शयनीयं तूलिकां सबिब्बोकाम्।
उद्वर्तयति शरीरं, स्नानादीनि या करोति ॥ ११४ ॥
गृहेषु गृहस्थानां, गत्वा कथां कथयति काथिका।
तरुणादीन् अभिपततः, अनुजानीयात् सा इ प्रत्यनीका ॥११५॥
"इ" 'इ-जे-रा. पादपूरणे' ॥८।२।२१७॥

तथा गृहस्थों के घरों में जाकर अथवा उपाश्रय में ही हर समय कथा में—गृहस्थों से वार्तालाप में लगी रहती है, और युवान पुरुषों के बार बार आने का जो अनुमोदन करती है, तो वह साध्वी के भेष में जिनशासन की शत्रु है ॥

टिप्पण - इसी प्रकार जो साधु हर समय गृहस्थों से वार्तालाप ही करते रहते हैं और स्वाध्याय प्रतिलेखना गुरु ग्लान आदि की सेवा भक्ति तथा अध्ययन अध्यापन में उपेक्षा भाव रखते हैं और युवतियों से बातें करने में अधिक रुचि रखते हैं तथा उन के बार बार आने की अनुमोदना करते हैं वे भी साधु वेष में जिन शासन के शत्रु हैं ॥

वुड्ढाणं तरुणाणं, रत्तिं अज्जा कहेइ जा धम्मं ।
सा गणिणी गुणसागर !, पडिणीआ होइ गच्छस्स॥११६॥

हे गुणों के सागर गौतम ! यदि मुख्य साध्वी भी रात्रि के समय वृद्धों तथा तरुणों के बीच धर्मकथा करती है तो वह साध्वी गच्छ की वैरण है ॥

जत्थ य समणीणम—संखडाइं गच्छम्मि नेव जायंति ॥
तं गच्छं गच्छवरं, गिहत्थभासा उ नो जत्थ ॥११७॥

जिस गच्छ की साध्वियों में परस्पर कलह नहीं होता तथा

वृद्धानां तरुणानां, रात्रौ आर्या कथयति या धर्मम् ।
सा गणिनी गुणसागर !, प्रत्यनीका भवति गच्छस्य ॥११६॥
"रत्तिं" 'सप्तम्या द्वितीया' इति सूत्रेण द्वितीया ॥
यत्र च श्रमणीनाम—संस्कृतानि गच्छे नैव जायन्ते ।
स गच्छो गच्छवरः गहस्थभाषास्तु न यत्र ॥ ११७ ॥

गृहस्थों के सदृश सावद्य एवं खुशामदभरे वाक्य नहीं बोले जाते ऐसी साध्विए ही गच्छ की शोभा को बढ़ाती हैं और वही श्रेष्ठ गच्छ है ॥

जो जत्तो वा जाओ, नालोअइ दिवसपक्खिअं वावि ।
सच्छंदा समणीओ, मयहरिआए न ठायंति ॥ ११८ ॥

स्वच्छन्दाचारिणी आर्यकाएं जो अतिचार जहाँ और जैसे लगे है, उन दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक अतिचारों की आलोचना नहीं करतीं और अपनी मुख्य साध्वी की आज्ञा में नहीं रहतीं हैं ॥

विंटलिआणि पउजंति, गिलाणसेहणी नेव तिप्पंति ।
अणगाढे आगाढं, करेंति आगाढे अणगाडं ॥ ११९॥

वे स्वच्छन्दाचारिणी आर्यकाएं यन्त्र मन्त्र तथा अष्टांग निमित्त आदि का प्रयोग करतीं हैं और ग्लान तथा नवदीक्षिता आदि की आहार पानी तथा औषध आदि से सेवा सुश्रूषा

यो यतो वा जातः, नालोचयन्ति दैवसिकं पाक्षिकं वापि ।
स्वच्छन्दाः श्रमण्यः, महत्तरिकाया न तिष्ठन्ति ॥ ११८ ॥

"जत्तो" 'त्तो दो तसो वा' ॥८।२।१६०॥ इति सूत्रेण तसः प्रत्ययस्य स्थाने 'त्तो' आदेशः ॥

विण्टलिकानि प्रयुञ्जते, ग्लानशैक्ष्यान् न तर्पयन्ति ।
अनागाढे आगाढं, कुर्वन्ति आगाढे अनागाढम् ॥११९॥

"गिलानसेहीए" 'क्वचिद् द्वितीयादेः' ॥ ८।३।१३४ ॥ इति सूत्रेण द्वितीयस्य स्थाने षष्ठी ।

नहीं कर पातीं। जो कार्य प्रथम अवश्य करणीय स्वाध्याय प्रति-लेखना प्रतिक्रमण आदि हैं उन को करती नहीं और जो इतने आवश्यक नहीं उन के करने में अपना समय लगाती रहती हैं॥

अजयणाए पकुव्वंति, पाहुणगाण अवच्छला।
चित्तलयाणि अ सेवंते, चित्ता रयहरणे तहा॥१२०॥

वे प्रत्येक संयमक्रिया अयत्न—अविवेकपूर्वक करती हैं, अन्य ग्राम आदि से आई हुई सध्वियों की आहार पानी आदि से यथायोग्य आदर सत्कार नहीं करतीं, वे नाना प्रकार के रंग-बिरंगे वस्त्र तथा विचित्र रचना वाला रजोहरण रखती हैं॥

गइ विब्भमाइएहिं, आगारविगार तह पगासंति।
जह वुड्ढाणवि मोहो, समुईरइ किं नु तरुणाणं?॥१२१॥

उन की गति में तथा उठने बैठने आदि में विलासता की बू आती है और वे इस प्रकार के हावभाव दिखलाती है कि बड़ी आयु वाले वृद्धपुरुषों के मन में भी विकार उत्पन्न हो जाए और युवानों का तो कहना ही क्या?॥

अयतनया प्रकुर्वन्ति, प्राघूर्णिकानां अवत्सला।
चित्रलानि च सेवन्ते, चित्राणि रजोहरणानि तथा॥१२०॥
गतिविभ्रमादिभिः, आकारविकारं तथा प्रकाशयन्ति।
यथा वृद्धानां मोहः, समुदीर्यते किं नु तरुणानाम्॥॥१२१॥

बहुसो उच्छोलिंती, मुहनयणे हत्थपायकक्खाओ ।
गिण्हेइ रागमंडल, भोइंति तह य कव्वट्टे ॥१२२॥

वे बार बार अपने हाथ मुंह आंख पांव तथा कक्षाओं को धोती हैं नाना प्रकार की रागणियों को सीखती हैं तथा गृहस्थों के बच्चों में रमण करती हैं उन्हें खाने की वस्तुएं देती हैं और अपना दिल बहलाती हैं। इन दोषों से युक्त आर्या, आर्या नहीं अपितु अनार्या हैं तथा स्वच्छन्दाचारिणी हैं ॥

जत्थ य थेरी तरुणी, थेरी तरुणी अ अन्तरे सुअइ ।
गोअम ! तं गच्छवरं, वरनाणचरित्तआहारं ॥१२३॥

जिस गच्छ में शयन करते समय यह क्रम ध्यान में रखा जाता है कि पहले स्थविरा (वृद्धा) साध्वी इस के पश्चात् युवावस्था वाली साध्वी उस के पश्चात् फिर वृद्धा और उस के पश्चात् पुनः तरुण-साध्वी, इस क्रम से अन्तर के साथ जहां तरुण साध्विएं सोती हैं, हे गौतम ! वह गच्छ श्रेष्ठ है और ऐसा गच्छ साधक आत्माओं के ज्ञान एवं चारित्र का आधार होता है ॥

बहुशः प्रक्षालयन्ति, मुखनयनानि हस्तपादकक्षाश्च ।
गृह्णन्ति रागमंडलं, भोजयन्ति तथा च कल्पस्थान् ॥१२२॥

यत्र च स्थविरा तरुणी, स्थविरा तरुणी चान्तरे स्वपिति ।
गौतम ! स गच्छवरः, वरज्ञानचारित्राधारः ॥ १२३ ॥

धोयंति कंठिआओ, पोअंति तह य दिंति पोत्ताणि।
गिहिकज्जचिंतगाओ, न हु अज्जा गोअमा! ताओ ॥१२४॥

जो आर्यकाएं विना कारण अपने कण्ठ आदि अंगो को धोती हैं गृहस्थो के लिये मोतियों की माला परोती हैं और उन के बालकों आदि को वस्त्र देती हैं इस प्रकार जो गृहस्थ-सम्बन्धी चिन्ताओं तथा उन के कार्यों में अपनी सम्मति मिलाती हैं, हे गौतम ! वास्तव में वे आर्यकाएं नहीं है ॥

खरघोडाइट्ठाणे, वयंति ते वावि तत्थ वच्चंति।
वेसत्थीसंसग्गी, उवस्सयाओ समीवंमि ॥१२५॥

जहां गोड़े गधे आदि पशु बान्धे जाते हैं अथवा जहां वे उठते बैठते हैं और आपस में कामक्रीड़ाएं करते हैं, उन स्थानों पर जो आर्यकाएं बार बार जाती हैं अथवा जहां आर्यकाएं ठहरी हुए हैं उस स्थान पर वे घोडे गधे आते जाते हैं, तो जो आर्यकाएं प्रसन्न होती हैं. इस के अतिरिक्त जहां वेश्या का सम्पर्क होता हो अथवा जिन अर्यकाओं के उपाश्रय के पास वेश्या रहती हो तो उन को आर्यका न समझना चाहिये ॥

धोवन्ति कण्ठिकाः, प्रोतयन्ति तथा च ददति वस्त्राणि।
गृहकार्यचिन्तिकाः, न हु आर्याः गौतम ! ताः ॥ १२४ ॥
खरघोटकादिस्थाने, व्रजन्ति ते वाऽपि तत्र व्रजन्ति।
वेश्यास्त्रीसंसर्गी, उपाश्रयात् समीपे ॥ १२५ ॥
"वच्चंति" 'व्रज-नृत-मदां च.' ॥ ८।४।२२५ ॥ इति सूत्रेण व्रजधातोन्त्यस्य द्विरुक्तश्चकारः ॥

सज्झायमुक्कजोगा, धम्मकहा विगह पेसण गिहीणं।
गिहिनिस्सिज्जं वाहिंति, संथवं तह करंतीओ ॥१२६॥

जिन आर्यकाओं ने शास्त्र की स्वाध्याय छोड़ रखी है और धर्मकथा में ही लगी रहती है तथा विकथा करती हैं-गृहस्थों से यूहीं बातचीतों में अपना समय व्यतीत करती हैं तथा उन को गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों के करने के लिये प्रेरणा रहती हैं गृहस्थों के घरों में जाकर बैठती हैं और उन से अधिक संस्तव परिचय बढ़ाती हैं, हे गौतम ! वे आर्यकाएं केवल अपने पेट को ही भरने वाली है वे वास्तव में आर्यकाएं नहीं हैं ॥

नोट —ये सब बातें साधुओं पर भी समान-रूप से लागू होती हैं। जो साधु ऐसा करते हैं वे भी केवल पेटू हैं और जिन शासन में वे साधु नहीं कहला सकते ॥

समा सीसपडिच्छीणं, चोअणासु अणालसा ।
गणिणी गुणसंपन्ना, पसत्थपुरिसाणुगा ॥१२७॥
संविग्गा भीयपरिसा य, उग्गदंडा य कारणे ।
सज्झायज्झाणजुत्ता य, संगहे अ विसारया ॥१२८॥

स्वाध्यायमुक्तयोगाः, धर्मकथाविकथा प्रेषणं गृहिणाम् ।
गृहिनिषद्यां वाहयन्ति, संस्तवं तथा कुर्वन्त्यः ॥१२६॥
समा शिष्यप्रतीच्छिकानां, नोदनासु अनलसा ।
गणिनी गुणसम्पन्ना, प्रशस्तपुरुषानुगता ॥ १२७ ॥
संविग्ना भीतपरिषत् च, उग्रदण्डा च कारणे ।
स्वाध्यायध्यानयुक्ता च, संग्रहे च विशारदा ॥१२८॥

इन दो गाथाओं में मुख्य-साध्वी कैसी होनी चाहिये यही बताया गया है:—

जो साध्वी ज्ञान दर्शन एवं चारित्र से सम्पन्न मोक्षाभिलाषिणी है, जनता के अधिक सम्पर्क से कतराती है एकान्तवास को अधिक महत्त्व देती है किन्तु कारण उपस्थित होने पर जब कि जनता का जीवन पतन की ओर जा रहा हो, और जिन-शासन की रक्षा का प्रश्न उपस्थित हो तो ऐसे समय में जो उग्ररूप भी धारण करने वाली हो अर्थात् ऐसे समय में जनता के सम्पर्क में आकर परम साहस से कार्य करने वाली हो। तथा स्वाध्याय और ध्यान में रक्त रहने वाली हो और नव-दीक्षिताओं तथा अन्य साध्वियों की भली प्रकार रक्षा करने वाली हो। अपनी शिष्याएं तथा अन्य के पास से अध्ययन एवं वैयावृत्त्य आदि के लिये आई हुई दूसरी शिष्याएं, इन में जो समभाव वर्तती हो, उन सब को प्रेरणा करने में शिक्षा देने में किसी प्रकार का आलस्य प्रमाद एवं पक्षपात नहीं करती हो। इस प्रकार जो अपने पूर्व प्रशस्त-पुरुषों का अनुसरण करती है, वह आर्यका महत्तरिका पद के योग्य होती है॥

टिप्पण—इसी प्रकार, ये उपरोक्त गुण जिस साधु में हों, वह साधुओं में मुखिया बनने के योग्य है।

जत्थुत्तरपडिउत्तर, वडिआ अज्जा उ साहुणो सद्धिम्।
पलवंति सुरुट्ठावी, गोअम! किं तेण गच्छेण? ॥१२९॥

योऽत्रोत्तरप्रत्युत्तरं, वृद्धा आर्या तु साधुना सार्द्धम्।
प्रलपन्ति सुरुष्टाऽपि, गौतम! किं तेन गच्छेन? ॥१२९॥

जहां आर्यका और साधु परस्पर (अथवा साधु साधु आपस में या आर्यका आर्यका एक दूसरे से) उत्तर प्रत्युत्तर में पड़ जावें और बड़े आवेश में आकर एक दूसरे को उत्तर देते चले जावें, हे गौतम ! ऐसे गच्छ से क्या लाभ है ? अर्थात् कोई लाभ नहीं है ॥

जत्थ य गच्छे गोयम ! उप्पण्णे कारणंमि अज्जाओ ।
गणिणीपिट्ठिठिआओ, भासंति मउअसद्देण ॥१३०॥

प्रथम तो आर्यका को विना कारण साधु से वार्तालाप करनी ही नहीं चाहिये, यदि कारण पड़ने पर ऐसा प्रसंग आजाए तो उसे अपने से बड़ी मुख्य साध्वी को आगे करके थोड़े शब्दों में सहज, सरल एवं निर्विकारता पूर्वक स्थविर अथवा गीतार्थ साधु से ही विनय के साथ बोले ऐसा जहां होता हो उस का नाम गच्छ है ॥

माऊए दुहिआए, सुण्हाए अहव भइणिमाईणम् ।
जत्थ न अज्जा अक्खइ, गुत्तिविभेयं तयं गच्छम् ॥१३१॥

तथा जो साध्वी, अपने संसारी सम्बन्धियों के नाम, यह मेरी माता है यह मेरी लड़की है, यह मेरी स्नुषा है, यह मेरी

यत्र च गच्छे गौतम !, उत्पन्ने कारणे आर्याः ।
गणिनीपृष्ठस्थिताः, भाषन्ते मृदुकशब्देन ॥ १३० ॥

मातुः दुहितुः, स्नुषायाः अथवा भगिन्यादीनाम् ।
यत्र न आर्या आख्याति, गुप्तिविभेदं सको गच्छः ॥१३१॥

बहन है अथवा मैं इस की माता हू मैं इस की लड़की हूँ आदि वचन विना कारण लोगों में प्रकट न करती हो और उन के मर्मों का उद्‌घाटन न करती हो, ऐसी वचन-गुप्ति वाली आर्यकाओं के समूह का नाम ही गच्छ है ॥

दंसणियारं कुणई, चरित्तनासं जणेइ मिच्छतम् ।
दुराहवि वग्गाणज्जा, विहारभेयं करेमाणी ॥१३२॥

जो आर्यका दर्शन में अतिचार दोष लगाने वाली और मिथ्यात्व को बढ़ाने वाली है तथा दोनों पक्षों में अर्थात् अपने तथा साधुओं के चारित्र में शैथिल्य लाने वाली है और जिनोक्तमार्ग से भटकाने वाली है, वह वास्तव में आर्यका नहीं है ॥

तम्मूलं संसारं, जणेइ अज्जा वि गोयमा ! नूणं ।
तम्हा धम्मुवएसं, मुत्तुं अन्नं न भासिज्जा ॥१३३॥

हे गौतम ! जिनोक्तमार्ग से भटकी हुई आर्यका भी निश्चय रूप से साधु के लिये संसार का कारण बन जाती है इस लिये आर्यकाओं से धर्मोपदेश से अतिरिक्त अन्य वार्तालाप न करनी चाहिये ॥

दर्शनातिचारं करोति, चारित्रनाशं जनयति मिथ्यात्वम् ।
द्वयोरपि वर्गयोरार्या, विहारभेदं कुर्वाणा ॥ १३२ ॥
तन्मूलं संसारं, जनयति आर्याऽपि गौतम ! नूनम् ।
तस्माद् धर्मोपदेशं, मुक्त्वा अन्यत् न भाषेत ॥ १३३ ॥

मासे मासे उ जा अज्जा, एगसित्थेण पारए ।
कलहइ गिहत्थभासाहिं, सव्वं तीए निरत्थयं ॥१३४॥

जो आर्यका एक एक मास की तपस्या कर रही है और पारणा भी केवल ग्रास मात्र से करती है यदि वह आर्यका दूसरों से ऐसे कलह करती है, जैसे गृहस्थ असभ्य शब्दों मे किया करते हैं तो उस आर्यका की सब तपस्या निष्फल हो जाती है ॥

टिप्पणी—इन उपरोक्त दो गाथाओं में जो विषय वर्णन किया गया है वह साधुओं के सम्बन्ध में भी समान रूप से लागू होता है जैसे कि जो साधु जिनोक्त मार्ग की आज्ञा का उल्लंघन करके वीतरागमार्ग से भटका हुआ है वह साध्वी के लिये संसार-परिभ्रमण का कारण हो सकता है इस लिये आर्यका साधुओं से धार्मिक वार्तालाप के अतिरिक्त अन्य संभाषण न करें । इसी प्रकार जो साधु तपस्या आदि शुभ कार्य तो करता है परन्तु हीन वचन एवं तुच्छ बचनों को बोलते हुए, क्लेश से बाज नहीं आता, उस के तपस्या आदि शुभ कार्य निष्फल होते हैं ॥

इस गाथा के साथ साध्वीस्वरूपनिरूपण नाम का तीसरा अधिकार समाप्त होता है इस अधिकार में जो साध्वियों के सम्बन्ध में कहा गया है वह उपरोक्त विधि से यथास्थान साधुओं के सम्बन्ध में भी

मासे मासे तु या आर्या, एकसिक्थेन पारयेत् ।
कलहयेत् गृहस्थभाषाभिः, सर्व्वं तस्याः निरर्थकम् ॥१३४॥

"मासे मासे" 'क्रियामध्येऽध्वकाले पञ्चमी च' ॥ २।२।११० ॥ इति सूत्रेण सप्तमी विभक्तिः ॥

समझ लेना चाहिये और साधुस्वरूपनिरूपण नाम के दूसरे अधिकार में जो विषय वर्णन किया गया वह भी यथा योग्य रूप से साध्वियों के सम्बन्ध में जान लेना चाहिये। यहां जो अलग अलग वर्णन किया गया है वह मुख्यता की दृष्टि से किया गया है। कोई बात साधुओं में मुख्यता से होती है तो कोइ साध्वियों में, जैस कि यह अन्तिम गाथा जिस में असभ्य शब्दों में क्लेश का वर्णन किया गया है, इस विषय की स्त्रीजाति में प्रधानता है और पुरुष जाति में गौणता, इस लिये यह गाथा पुरुषाधिकार में न देकर स्त्री अधिकार में दी गइ है परन्तु लागू होती है स्त्री और पुरुष दोनों पर समान रूप से ॥

अब ग्रन्थकार ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

महानिसीहकप्पाओ, ववहाराओ तहेव य।
साहुसाहुणिअट्ठाए, गच्छायारं समुद्धियं ॥१३५॥

महानिशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार तथा निशीथ आदि सूत्रों से साधु साध्वियों के लिये यह "गच्छाचारप्रकीर्णक" नामक ग्रन्थ, समुद्धृत किया है ॥

पढंतु साहुणो एयं, असज्झायं विवज्जिउ ।
उत्तमं सुअनिस्संदं, गच्छायारं सु उत्तमम् ॥ १३६॥

इस लिये साधु साध्वियां, श्रुत के निचोड़—तत्त्वसाररूप

महानिशीथकल्पात्, व्यवहारात् तथैव च।
साधुसाध्व्यर्थाय, गच्छाचारः समुद्धृतः ॥ १३५ ॥
पठन्तु साधव एतद्, अस्वाध्यायं विवर्ज्य ।
उत्तमं श्रुतनिस्यन्दं, गच्छाचारं सूत्तमम् ॥१३६॥

इस उत्तम संकलन गच्छाचारप्रकीर्णक को अस्वाध्यायकाल छोड़ कर पढ़ें और इस का चिन्तन एवं मनन करें ॥

गच्छायारं सुणित्ताणं, पढित्ता भिक्खु भिक्खुणी ।
कुणंतु जं जहा भणियं, इच्छन्ता हियमप्पणो ॥१३७॥

साधु और साध्वियां जो अपनी आत्मा का हित साधना चाहती हैं इस "गच्छाचार प्रकीर्णक" को स्वयं पढ़ कर या दूसरे से सुन कर, उसी प्रकार करें जैसा कि इस में कहा है; ऐसा करने से उन की आत्मा का कल्याण होगा ॥

इति गच्छाचारप्रकीर्णकं समाप्तम्



गच्छाचारं श्रुत्वा, पठित्वा भिक्षवो भिक्षुण्यः ।
कुर्वन्तु यद्यथा भणितं, इच्छन्ती हितमात्मनः ॥१३७॥